इस अंक में

● भारतीय रंगमंच के काल संवादी स्वर

● बीहड़ में बेहतर की तलाश बाकी है

● जब मंच पर हों अनुपम खेर...

● नाटक की बनती-बिगड़ती शैलियाँ

स्मृति शेष

पं. भीमसेन जोशी

गुलवर्धन

आशी मनोहर

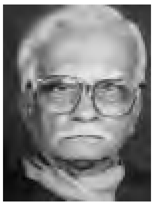

शशांक मुखर्जी

प्रज्ञा मुखर्जी

रंग संवाद

जनवरी-मार्च 2011

वनमाली सृजन पीठ का संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता, राकेश सेठी

कम्पोजिंग : मुकेश सेन

मुख्य आवरण चित्र : विजय रोहतगी
अंतिम आवरण चित्र : अमृत लाल वेगड़
भीतर के छायाचित्र : विजय रोहतगी, सौरभ अग्रवाल, प्रवीण दीक्षित, घनश्याम शर्मा तथा ताज़नूर

संपादकीय संपर्क :
वनमाली स्मृति सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : vanmalisrijanpeeth@gmail.com

जरूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमति हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित
मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

संपादकीय

कहानी का रंगमंच

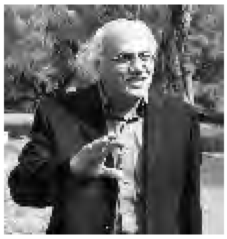

रंग संवाद का ये अंक वनमाली कथा सम्मान समारोह के अवसर पर प्रकाशित हो रहा है। समारोह के दौरान उनकी तीन कहानियों को लेकर नाट्य मंचन भी किया जा रहा है। अतः मुझे यह उचित लगता है कि इस अवसर पर हम कहानी के रंगमंच पर कुछ बातें कर लें। बातचीत की शुरुआत के सूत्र भी हमें वनमाली जी के एक वक्तव्य से ही मिल सकते हैं। कहानी के बारे में उन्होंने कहा था- ''मैं कहानी में सब बातें छोड़ने को तैयार हूँ पर उसमें इंटेसिटी और ड्रामेटिक एलीमेंट का होना बहुत लाजिम समझता हूँ। शायद ये दो चीजें ही कहानी की टेक्नीक की जान हैं।'' तो कहा जा सकता है कि कहानी में एक तरह की नाटकीयता होती है।

इसी के समानान्तर मैं आपको अपना एक अनुभव सुनाना चाहता हूँ। अनुभव तब का है जब हम फिरेंज करन्थी का नाटक 'गर्म कमरा' कर रहे थे। नाटक का अनुवाद रघुवीर सहाय ने किया था और उसमें कुल दो ही पात्र थे। निर्देशन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के अशोक मिश्रा और हेमा सहाय कर रहे थे। रघुवीर सहाय अक्सर रिहर्सल देखने आया करते थे। करीब 15 दिन की रिहर्सल के बाद उन्होंने हमसे कहा कि तुम इस नाटक की कहानी लिखो। उन्हें शायद ये लग रहा था कि हम उस नाटक के मर्म तक नहीं पहुंच पा रहे हैं। तीन दिन के लिए रिहर्सल ब्रेक की गई फिर हम लोगों ने उस नाटक को एक कहानी के रूप में लिखा और अशोक तथा हेमा के साथ एक लंबा इंटरएक्शन किया। इस प्रक्रिया ने नाटक के बारे में हमारी समझ बढ़ाने में बहुत मदद की। इसके बाद हमने दोबारा रिहर्सल शुरू की और एक बहुत अलग तरह का नाटक बना। उसके मंचन के समय अज्ञेय जी भी थे और उन्होंने अपनी तरह से, सीमित शब्दों में, नाटक की बड़ी प्रशंसा की। तो जैसे कि कहानी में नाटकीयता होती है वैसे ही हर नाटक की एक कहानी भी होती है।

यह समझने के लिए हमें कोई बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा। हमारी लोक कलाओं में भी स्टोरी टेलिंग की एक परम्परा लगातार चलती रही है और वो भी काफी ड्रामेटिक होती है। जिस तरह 'आल्हा' का गायन होता है या 'पंडवानी' को प्रस्तुत करने की परम्परा है वह एक तरह से कहानी को एक्ट करने की ही परम्परा है। कहानी का नाट्य रुपान्तर सदियों से होता रहा है और प्रारंभिक नाटक पुराण कथाओं और लोक गाथाओं पर ही आधारित रहे हैं। चाहे वो शेक्सपीयर रहे हों या कालिदास, कहानी उन्होंने कहीं न कहीं से ली या गढ़ी होगी और उससे नाटक बना। हिन्दी में एक महत्वपूर्ण काम 'गोदान' के नाट्य रुपान्तर का था जो 'होरी' के नाम से किया गया था। 'महाभोज' के नाट्य रुपान्तर की बहुत चर्चा रही है। 'निशान्तर' नाट्य समूह ने 'गणदेवता' की प्रस्तुति से शुरुआत की थी। लेकिन ये सारी की सारी प्रस्तुतियाँ उपन्यास या कथा साहित्य का पूरा स्वरूप बदलकर और उन्हें नाटक के रूप में विधिवत रुपान्तरित करके हुई थीं। हिन्दी कहानी के मंचन में देवेन्द्र राज अंकुर का नाम अनिवार्य रूप से लिया जाना चाहिए जिन्होंने बाकायदा कहानियों के मंचन की एक शुरुआत की।

कहानियों के मंचन के लिए दो तरह के स्कूल हैं। पहले का मानना है कि कहानी क्योंकि अपने आप में एक संपूर्ण विधा है और उसमें संवाद, नैरेटिव, भावात्मकता एक संपूर्णता में रहती है अतः उसे डिकन्स्ट्रक्ट नहीं किया जाना चाहिए और जहाँ तक हो सके उसके टैक्स्ट को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी नाटकीयता को उभारा जाना चाहिए। कहानी की नाटकीयता तो उसके शब्दों और ध्वनि में है। एक दूसरा स्कूल है जो कहानी के नाट्य रुपान्तर में विश्वास रखता है। वहां नैरेटिव को रंगमंच की डिवाइसेस के माध्यम से कहा जाता है और कथा को संवादों के माध्यम से। कहानी में किए गए संकेतों को निर्देशक अपनी ओर से नाटकीय दृश्यों द्वारा खोलने की कोशिश करता है और इस तरह उसकी संप्रेषणीयता बढ़ाने का प्रयत्न करता है। दोनों ही तरह की प्रभावशाली रंग प्रस्तुतियां हमने देखी हैं। अतः किसी एक या दूसरे के पक्ष में निर्णय नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह तो कहना ही होगा कि कहानी का नाट्य मंचन करते समय मूल कहानी, उसके कथ्य और उसकी प्रभावशीलता को ध्यान में रखा जाना चाहिए और लेखक और नाट्य निर्देशक उसकी पूर्व तैयारी के समय संवाद बनाएं तो एक बेहतर प्रस्तुति हो सकती है।

असल में 'रंगमंच' और 'नाटक' पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। रंगमंच नाटक से व्यापकतर शब्द है। कहानी को रंगमंच पर लाना सिर्फ नाटक करना नहीं है। कहानी का दृश्य विधान करना एक तरह का एक ऐसा चमत्कार पैदा करना है जो दर्शक के मन में कहानी में कही गई वास्तविक अनुभूतियाँ जगा दे। कहानी का रंगमंच शब्द के द्वारा पैदा किया गया दृश्यविधान है।

●

'रंग संवाद' का यह अंक नाटक के बहुत से पक्षों को समेटता है। रमेश उपाध्याय ने अपने नाट्यलेखन के अनुभवों को हमसे साझा किया गया है, विलास गुप्ते ने भविष्य के नाटकों की बात की है और श्रीनिवास रथ ने 'भारतीय रंगमंच में काल संवादी स्वर' के माध्यम से भारत की नाट्य परंपरा पर प्रकाश डाला है। इसमें भोपाल के रंगकर्मियों से की गई रोचक बातचीत है तथा उत्पल दत्त का एक सुंदर आलेख भी।

पंडित भीमसेन जोशी और गुलवर्धन का जाना एक युग की समाप्ति की तरह था। उन पर भी विस्तृत आलेख इस अंक में हैं।

आशा है पिछले अंकों की तरह आप इस अंक को भी पसंद करेंगे।

● संतोष चौबे

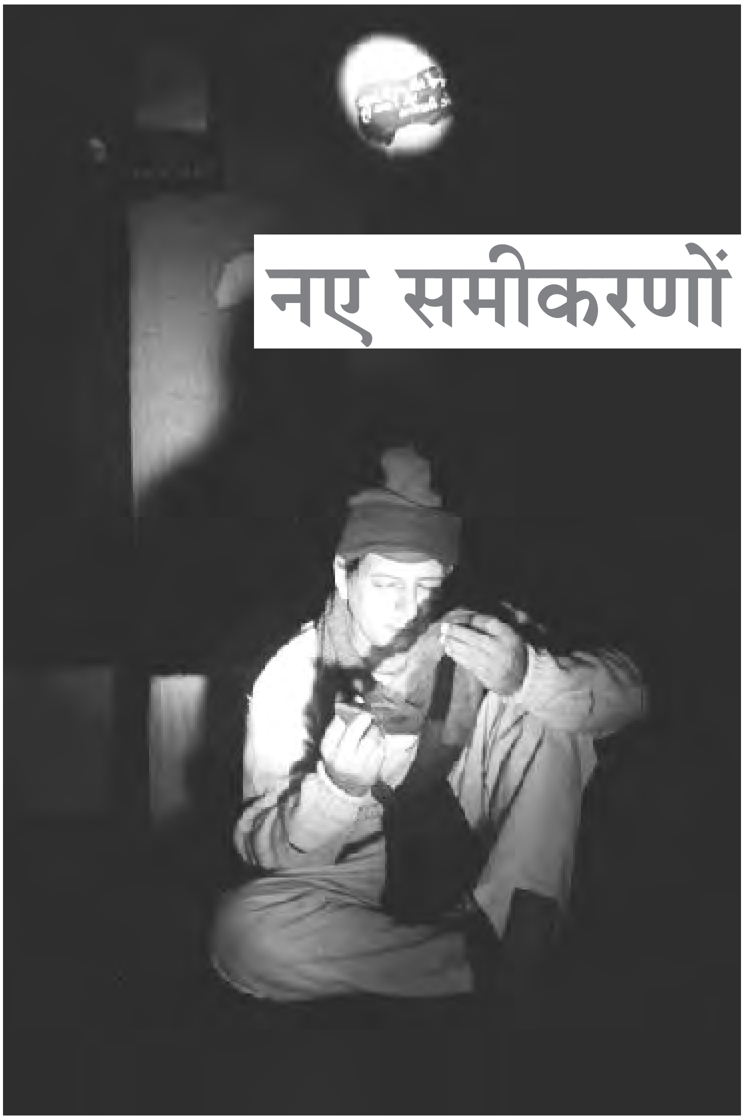

नाटककार : मेरे अनुभव

रमेश उपाध्याय

नए समीकरणों की दरकार

हिन्दी पिछड़ी हुई या दरिद्र भाषा है, उसमें कुछ भी अच्छा नहीं है और न हो सकता है, ऐसा सोचने वाले और अनुवादों से काम चलाने वाले रंगकर्मी हिन्दी में अच्छे नाटक लिखने वालों को आकर्षित करने के बजाय हतोत्साहित ही करते हैं और इस प्रकार स्वयं हिन्दी भाषा और रंगकर्म को दरिद्र बनाते हैं। यदि वे सचमुच चाहते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक लिखे जायें, तो उन्हें चाहिए कि वे हिन्दी भाषा से प्यार करना और हिन्दी लेखकों का आदर करना सीखें। वे हिन्दी में अच्छे नाटक न होने का रोना रोने और अनुवादों से काम चलाने की आदत छोड़ें और हिन्दी नाटक तथा रंगकर्म को समृद्ध बनायें।

मैं नितांत संयोगवश नाटक लेखन में प्रवृत्त हुआ। यह 1965 की बात है। दिल्ली की एक साहित्यिक संस्था ने मेरे कहानी पाठ का आयोजन किया था। मुझ नवोदित लेखक की कहानी सुनने कुछ वरिष्ठ साहित्यकार भी आये थे। उनमें से एक थे कथाकार-नाटककार सत्येंद्र शरत्, जो उस समय आकाशवाणी की विविध भारती सेवा में प्रोड्यूसर थे। गोष्ठी के बाद चाय के समय उन्होंने मुझसे पूछा, ''कहानी लिखने के अलावा आप और क्या करते हैं?'' मैंने बताया कि मैं अभी तक दिल्ली प्रेस से निकलने वाली पत्रिका 'सरिता' के संपादकीय विभाग में था, लेकिन वहाँ काम करना मुझे अच्छा नहीं लगा, इसलिए मैंने नौकरी छोड़ दी है और फिलहाल स्वतंत्र लेखन करता हूँ।

''रेडियो के लिए नाटक लिखना चाहेंगे?'' उन्होंने पूछा।

मुझे नाटक लिखने का कोई अनुभव नहीं था, फिर भी युवकोचित उत्साह के साथ मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन्होंने विविध भारती के लोकप्रिय कार्यक्रम 'हवा महल' के लिए पंद्रह-पंद्रह मिनट के हल्के-फुल्के नाटक लिखने के लिए कहा। और मैं शायद दूसरे या तीसरे दिन ही एक नाटक लिखकर उनके पास जा पहुंचा। उन्होंने कैंटीन में ले जाकर मुझे चाय पिलायी। मेरे सामने ही उन्होंने नाटक पढ़ा और शाबाशी दी, ''आप अच्छा लिखते हैं, हमारे लिए और लिखिए।'' मेरे उस पहले नाटक को उन्होंने अपने ही निर्देशन में प्रोड्यूस और प्रसारित किया। अब याद नहीं कि मेरा पहला नाटक कौन-सा था और उसमें क्या था? लिखना शुरू करने के कई साल बाद तक भी मुझे यह शऊर नहीं था कि अपनी रचनाओं की प्रतिलिपियाँ अपने पास सँभालकर रखूँ। टाइपराइटर तब मेरे पास था नहीं और कार्बन लगाकर लिखना या अपने लिखे हुए को किसी और से टाइप कराना मुझे झंझट का काम लगता था, इसलिए मैं अपनी रचनाएँ हाथ से लिखता था और भेज देता था। फोटोकॉपी की तकनीक तब तक आयी नहीं थी और टेपरिकॉर्डर आज की तरह सस्ता और सुलभ नहीं था कि नाटक जब रेडियो से प्रसारित हो, तो उसे टेप कर लिया जाये। बहरहाल, 'हवामहल' कार्यक्रम के लिए हुए मेरे रेडियो नाटक खूब सराहे गये और बार-बार प्रसारित हुए। उनमें से कुछ यदा-कदा अब भी सुनने को मिल जाते हैं और मेरे बच्चे, जो अब खूब बड़े हो गये हैं, उन्हें टेप कर लेते हैं।

उन दिनों या तो आकाशवाणी में रेडियो नाटकों की माँग बहुत ज्यादा थी या रेडियो नाटक लिखने वालों की संख्या बहुत कम थी। सत्येंद्र शरत् ने मुझे नाटक विभाग के सुशील कुमार से, बच्चों का कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाले बालकराम नागर से और महिलाओं के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत करने वाली सई परांजपे से मिलवाया, तो सभी ने मुझसे अपने-अपने कार्यक्रम के लिए नाटक लिखने को कहा। दूरदर्शन के वे शुरुआती दिन थे और वहाँ से भी नाटक प्रसारित किये जाते थे। वहाँ के अक्षोभ्येश्वरी प्रताप ने मुझसे दूरदर्शन के लिए भी कुछ नाटक लिखवाये।

उन सबकी माँग पूरी करने के लिए इतने मौलिक नाटक लिखना मुश्किल था, इसलिए मैंने देशी-विदेशी लेखकों की प्रसिद्ध रचनाओं के नाट्य रूपांतरण करने शुरू किये और ओ. हेनरी, चेखोव, मोपासाँ, तोलस्तोय, मार्क ट्वेन, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद,

हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी आदि की कहानियों के नाट्य रूपांतरण किये, जो आकाशवाणी और दूरदर्शन से प्रसारित हुए। साथ-साथ मैं अपने मौलिक नाटक भी लिखता रहा। उनमें से आधे घंटे का एक नाटक 'अपने-अपने दायरे' बहुत सराहा गया। उसे आकाशवाणी से वर्ष में प्रसारित नाटकों में सर्वश्रेष्ठ नाटक के रूप में चुना गया और आकाशवाणी के सभी केंद्रों से प्रसारित किया गया। उस नाटक की मुझे सबसे अधिक रॉयल्टी मिली। देश भर के आकाशवाणी केन्द्रों से चेक आये।

जब मुझे 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादकीय विभाग में नौकरी मिल गयी और नाटक लिखकर पैसा कमाने की जरूरत नहीं रही, तब भी आकाशवाणी और दूरदर्शन के मेरे मित्रों का आग्रह बना रहा कि मैं उनके लिए नाटक लिखूँ। तब मैंने कुछ बड़ी रचनाओं के नाट्य रूपांतरण किये, जैसे दूरदर्शन के लिए मार्क ट्वेन की लंबी कहानी 'दि मैन दैट करप्टेड हैडलीबर्ग' का नाट्य रूपांतरण और आकाशवाणी के लिए यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप' का तथा भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'अपने खिलौने' का नाट्य रूपांतरण। उपन्यासों के नाट्य रूपांतरण कई किस्तों में धारावाहिक रेडियो के रूप में प्रसारित हुए।

रेडियो पर 'मृच्छकटिकम्'

हिन्दी डाइजेस्ट 'नवनीत' का सहायक संपादक बनकर जब मैं बंबई गया, तब कवि नरेन्द्र शर्मा वहाँ के आकाशवाणी केन्द्र के निदेशक थे। मैं उनसे मिला, तो उन्होंने मेरे रेडियो नाटकों की प्रशंसा करते हुए अपने केन्द्र के लिए भी नाटक लिखने को कहा। उनके लिए मैंने शूद्रक के संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम्' का रेडियो नाट्य रूपांतरण किया, जो छह किस्तों में धारावाहिक रूप से प्रसारित हुआ। (उसमें फिल्म अभिनेत्री कल्पना ने वसंतसेना के चरित्र को अपना स्वर दिया था। इसी तरह फिल्म अभिनेत्री कामिनी कौशल ने एकालाप के रूप में लिखे गये मेरे मौलिक रेडियो नाटक 'लोक लाज' में अपना स्वर दिया था।)

बंबई से वापस दिल्ली आने पर मैंने अपना पहला मंचीय नाटक 'पेपरवेट' लिखा, जिसका पहला मंचन 1972 में 'प्रतिबिंब' नामक नाट्य संस्था ने त्रिवेणी के मुक्ताकाशी रंगमंच पर किया। पहला शो देखने वालों में कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना भी थे। उन्हें नाटक इतना अच्छा लगा कि उन्होंने मुझे गले लगाकर बधाई दी और 'दिनमान' में उसकी विस्तृत समीक्षा लिखी उन्हीं दिनों राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने इब्राहीम अलकाजी के निर्देशन में लक्ष्मीनारायण लाल का नाटक 'सूर्यमुख' मंचित किया था। सर्वेश्वर जी ने दोनों नाटकों की तुलना करते हुए लिखा था कि 'सूर्यमुख' नाटक ''लेखक का न होकर निर्देशक का था और इस बात का गवाह था कि एक अपेक्षाकृत हल्के आलेख को भी एक कुशल निर्देशक कैसे वजनदार बना देता है।... दूसरी ओर 'पेपरवेट' था। एक नये लेखक रमेश उपाध्याय का पहला नाटक। आज की जिंदगी से जुड़ने की कोशिश और साधारण जन की पीड़ा को उभारने और उसकी समस्याओं को सही-सही रेखांकित करने का प्रयत्न। ...यह नाटक निर्देशक का नहीं, लेखक का था। ...'सूर्यमुख' एक साफ-सुथरे चिकने मगर बंद रास्ते का नाटक था, जबकि 'पेपरवेट' उस खुरदरी पगडंडी का, जहाँ से एक नया रास्ता खुलता है, एक बने-बनाये राजमार्ग से हटकर वह एक नयी लीक बनाता है।'' फिर जब बंबई 'इप्टा' के एम.एस. सथ्यू, शमा जैदी, आर.एम. सिंह, ए.के. हंगल, सुलभा आर्य, नितिन सेठी आदि की टीम ने मुंबई में 'पेपरवेट' का मंचन किया, तब तो इस नाटक की धूम ही मच गयी। शमा जैदी ने हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती और मराठी की पत्र-पत्रिकाओं में छपी समीक्षाओं का पुलिंदा भेजते हुए मुझे बधाई दी थी और लिखा था कि मैं 'इप्टा' के लिए और नाटक लिखूँ। इसके बाद जगह-जगह 'पेपरवेट' के मंचन हुए। पंजाबी और तेलुगु भाषाओं में अनुवाद भी हुए।

जो लोग यह शिकायत करते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक नहीं हैं, या नहीं लिखे जा रहे हैं, वे अव्वल तो यह देखें कि ऐसे वक्तव्य कहीं उनके अज्ञान या अहंकार के सूचक तो नहीं हैं। दूसरे, यदि उन्हें लगता है कि वास्तविकता यही है, तो शिकायतें करते रहने और इस बहाने दूसरी भाषाओं से अनूदित नाटक करते रहने के बजाय वे लेखकों को नाटक लिखने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करें।

मेरा दूसरा नाटक था 'भारत-भाग्य-विधाता'। यह नाटक तेलुगु कथाकार ईश्वर की कहानी 'आदमी' पर आधारित था और चुनाव से संबंधित था। उन दिनों नागार्जुन की कविता 'अब तो बंद करो हे देवी यह चुनाव का प्रहसन' बहुत प्रसिद्ध हुई थी। यह कविता उन्होंने 1972 में पश्चिम बंगाल के चुनाव में हुई भारी धाँधली से क्षुब्ध होकर लिखी थी। मैंने अपने नाटक में कुछ जगहों पर इस कविता के अंशों का उपयोग किया था।

यह नाटक मैंने 1973 में लिखा था। संयोग से उसी समय दिल्ली में जन नाट्य मंच नामक एक नयी नाट्य संस्था का गठन हुआ, जिसमें मेरा मित्र सफदर हाशमी सक्रिय था। उसके कहने पर मैंने उसकी मंडली के बीच बैठकर नाटक का पाठ किया और सबने नाटक की प्रशंसा की। तत्काल तय हो गया कि जन नाट्य मंच का पहला नाटक 'भारत-भाग्य-विधाता' ही होगा। नाटक का पहला मंचन उसी वर्ष कविता नागपाल के निर्देशन में दिल्ली में हुआ।

जिन दिनों 'भारत-भाग्य-विधाता' की रिहर्सल हो रही थी, एक दिन सर्वेश्वर दयाल सक्सेना रिहर्सल देखने आये। नागार्जुन की कविता के अंशों की जगह उन्होंने स्वयं गीत लिखने का प्रस्ताव किया और इस नाटक के लिए नौ गीत लिखे। मोहन उप्रेती ने उन गीतों को संगीतबद्ध किया। उनमें से एक गीत 'अब तंग आ चुके हैं हम ऐसे चुनाव से, आवाज आ रही है सुनो गाँव-गाँव से' काफी लोकप्रिय हुआ था।

सफदर हाशमी का साक्षात्कार

सफदर हाशमी ने 1988 में यूट्रैक्ट विश्वविद्यालय, हॉलैंड के थियेटर स्टडीज़ के प्राध्यापक यूजीन वैन अरविन को दिये एक साक्षात्कार में, जो पहले अंग्रेजी में 'दि राइट टु परफॉर्म' में छपा था और बाद में हिन्दी में अनुदित होकर 'नुक्कड़ जनम संवाद' में, 'भारत-भाग्य-विधाता' की प्रस्तुतियों का बड़ा रोचक वर्णन किया था। उस साक्षात्कार का संबंधित अंश इस प्रकार है :

सफदर हाशमी : (जन नाट्य मंच की स्थापना के साल 1973 की चर्चा करते हुए) इसी समय दिल्ली के कुछ बहुत ही जाने-माने नाटककार भी हमारे साथ जुड़ गये। एक बहुत प्रतिभाशाली गायक था, जो अब टी.वी. और फिल्म में एक मशहूर अभिनेता है, उसका नाम विनोद नागपाल है। उसकी पत्नी भी आ गयीं। वे एक मानी हुई नाट्य समीक्षक और निर्देशक थीं। एक नौजवान नाटककार रमेश उपाध्याय ने हमारे लिए एक नाटक लिखा 'भारत-भाग्य-विधाता'। नाटक का शीर्षक हमारे राष्ट्रीय गान से लिया गया है। शीर्षक विडंबनात्मक था और नाटक आम चुनावों पर आधारित था। इसकी तैयारी हमने सितंबर में की। एक मशहूर संगीतकार और लेजेंडरी गायक मोहन उप्रेती ने इसका संगीत तैयार किया। वह एक अच्छा लिखा गया नाटक था, लेकिन श्रीमती नागपाल ने उसमें वाचक और प्रतिवाचक को जोड़ दिया। उनके पति वाचक का पात्र खेल रहे थे और मैं प्रतिवाचक का। यह एक प्रकार से ब्रेख्तियन तकनीक थी, जो होने वाली कार्रवाई पर टिप्पणी करती है और हम गानों द्वारा बताते थे कि आगे क्या होने वाला है। हम हर दृश्य की समीक्षा किया करते थे।

नाटक बहुत लोकप्रिय बन गया। आलोचकों ने भी इसकी बहुत प्रशंसा की। फिर हम इसे कॉलेजों और मजदूर बस्तियों में ले जाने लगे। हमने पार्क में भी प्रस्तुतियाँ कीं। जनवरी-फरवरी 1974 में हमने पश्चिमी उत्तर प्रदेश का दौरा किया। उन दिनों वहाँ चुनाव हो रहे थे। हमने उन शहरों में नाटक के शो किये, जहाँ सी.पी.आई. या सी.पी.आई.(एम.) के उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे थे। संदेश बिल्कुल साफ था- हम चाहते थे कि जनता कम्युनिस्टों को ही वोट दे। कम्युनिस्ट सभी जगह चुनाव हार गये, लेकिन यह एक अलग कहानी है। वे जीत ही नहीं सकते थे, क्योंकि उनका जन-संपर्क नहीं था। कोई भी नौजवानों या किसानों का आंदोलन नहीं था।

कुछ जगहों पर हमें बहुत दर्शक मिले। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एक शहर है। अमरोहा। हम वहाँ सिर्फ एक रात के लिए प्रस्तुति करने के लिए गये थे। वहाँ 15,000 दर्शक थे। हम इतनी ज्यादा भीड़ के

लिए तैयार नहीं थे। मंच कुछ खास ऊँचा नहीं था। वहाँ के लोगों ने जिद की कि हम एक रोज और ठहर जायें और एक और शो करें। तो हमने सोचा कि एक दिन और ठहरकर और कुछ ऊँचा मंच बनाकर नाटक करते हैं। अब एक बहुत ही मजेदार बात हुई। हमने अपने नाटक के प्रचार के लिए एक रिक्शे पर लाउडस्पीकर लगाकर कहना शुरू किया कि फलाने-फलाने समय पर हमारा नाटक फलानी जगह पर होगा। शहर में लगभग एक लाख की आबादी थी। हमने तीन रिक्शे भेजे थे। अब हुआ ऐसा कि अति दक्षिणपंथी राजनीतिक पार्टी ने भी अपने रिक्शे सड़कों पर भेज रखे थे और ऐलान करवा रहे थे कि आम जनता इस नाटक को देखने न जाये, क्योंकि यह नाटक कम्युनिस्ट करवा रहे हैं, जो अश्लील है और दिल्ली से वेश्याएँ लाये हैं नचवाने के लिए। जब हमने यह सुना, तो हमने अपने रिक्शे रुकवा दिये। हमें मालूम था कि अब तो लोग आयेंगे ही। शाम को नाटक देखने लगभग 35,000 लोग पहुंच गये। यह बिलकुल ही अप्रत्याशित था। हमने मंच ऊँचा तो किया था, लेकिन दूर से लोग उसे देख नहीं पा रहे थे। लोग पीछे से आगे आने की कोशिश करते थे, तो आगे वाले लोगों का एक हुजूम स्टेज से टकरा जाता था। दुबारा धक्का लगता, तो सौ-दो सौ लोग मंच पर आ गिरते थे।

सुरीला ड्रायवर

इसी समय एक और अनहोनी बात हुई। गायक विनोद नागपाल कुछ पीने-पिलाने के शौकीन थे। शाम होते-होते कुछ मस्त हो जाते थे। हम एक बस में सफर कर रहे थे और बस का ड्राइवर कभी-कभार देसी शराब की बोतल खरीद लिया करता था। वह बोतल में नमक डाल दिया करता था, ताकि वह और भी तेज बन जाये। उस रात विनोद ने कम से कम आधी बोतल तो पी ही रखी होगी। तो इस सारी हबड़-तबड़ में हम नाटक नहीं शुरू कर सके और विनोद गाड़ी में लेटा हुआ था। उसने कहा कि वह आज प्रस्तुति देने की हालत में नहीं है। वह बहुत लंबा आदमी है, लगभग छह फुट दो इंच। बहुत ही खूबसूरत भी और अच्छी काठी का। मैं उसके पास बस में गया, जो मंच के बिलकुल पीछे ही खड़ी थी। मैंने उससे कहा- 'तुम मंच पर जाओ'। वह मंच पर गया। कुरता-पाजामा पहने और कंधे पर शॉल डाले। मैंने उससे कहा- 'कुछ भी गाओ'। उसने शास्त्रीय रूप में कुछ गाना शुरू किया, जिसे लोग पसंद नहीं करते हैं। उसने बड़ी ही सुंदर मुद्रा बनायी और मैंने हारमोनियम पर उसके लिए सुर साधा। शास्त्रीय गायन के बाद उसने क्रांतिकारी कवि फैज़ अहमद फैज़ के गीत गाने शुरू कर दिये।

भारत में शास्त्रीय गायन का एक ढंग है, जिसमें शब्दों तक पहुंचने से पहले सिर्फ सुर ही गाये जाते हैं। इसे आलाप कहते हैं। उसने पंद्रह मिनट तक सिर्फ आलाप ही किया। आलाप ने उस 35,000 के जनसमूह को, जिसमें बच्चे और औरतें भी थीं, मानो वशीभूत कर लिया। पहले की हबड़-तबड़ की जगह अब मुकम्मल शांति थी। वह फिर अपने आलाप को रोक नहीं पाया। वह एक कलाकार था और उसने महसूस कर लिया था कि उसके गायन से लोग मंत्रमुग्ध हो गये हैं। उसने 35 मिनिट तक गाया, मंच के बीचों-बीच खड़े होकर। वह अभी तक नशे में था और इसी वजह से झूम भी रहा था। वहाँ पर बिलकुल खामोशी थी। जब उसने गाना बंद किया, तो दर्शक बहुत देर तक ताली बजाते रहे। इसके बाद हमने नाटक शुरू किया, जो सुबह होने तक चलता रहा, लेकिन बीच में कोई रुकावट नहीं आयी। काश, मैं उन क्षणों की फिल्म बना पाता!

यूजीन वैन अरविन : क्या तुम मुझे संक्षेप में बता सकते हो कि नाटक का प्लॉट क्या था?

सफदर हाशमी : गाँव के एक छोटे चुनाव क्षेत्र में दो व्यक्ति दो अलग पार्टियों से एक-दूसरे के खिलाफ चुनाव लड़ रहे हैं। उनमें से एक बड़ा इजारेदार है और दूसरा जमींदार। चुनाव की तैयारी जोर-शोर से चल रही हैं। समझ में नहीं आता कि किसको वोट दें, क्योंकि दोनों ही शोषणकर्ता हैं। एक दिन वे ठान लेते हैं कि अपने ही उम्मीदवार-एक मोची को अपना प्रतिनिधि बनाकर खड़ा करेंगे। वह सबसे नीची जाति हरिजन या अछूत वर्ग से है। जनता उसके प्रतिनिधित्व से खुश है और उसकी चुनाव सभाओं में आ रही है। इसकी वजह से बाकी दोनों उम्मीदवारों के खेमे खाली पड़ने लगते हैं। वे जनता से छिपकर साथ आ जाते हैं और भाड़े के हत्यारों की मदद से जनता के उम्मीदवार की हत्या करा देते हैं। तो नाटक एक हार के रूप में खत्म होता है। जनता बिलकुल हताश हो जाती है। इस समय वाचक और प्रतिवाचक आते हैं और गाना गाते हैं कि आंदोलन खत्म नहीं हुआ है। नाटक तो सिर्फ दुश्मन का परदाफाश करता है। नाटक वेल-मेड था और उसे खेलने में बहुत आनंद आता था, क्योंकि उसमें नृत्य, गाने और मजेदार पात्र थे।

यूजीन वैन अरविन : क्या दोनों वाचक दो अलग राजनीतिक रूप को पेश करते थे?

सफदर हाशमी : नहीं, ऐसा नहीं था। हमारी पारंपरिक संस्कृति में भी अमूमन वाचकों की डिवाइस इस्तेमाल की जाती है, जिनको नट और नटी कहते हैं- एक मर्द और एक औरत। नट का मतलब होता है करतब दिखाने वाला। संस्कृत नाटक में इसे सूत्रधार कहते हैं, जिसका मतलब है 'जो धागे को बाँधकर रखता है'। हमारे नाटक में नट सिर्फ कहानी से सरोकार रखता है, वह किसी और पचड़े में नहीं पड़ता। इसी समय एक और वाचक दर्शकों के बीच से उठता है और कहता है- ''दर्शकों को सिर्फ यह बताना जरूरी नहीं है कि क्या हुआ, यह बताना भी जरूरी है कि क्यों हुआ?'' मैंने यह पात्र खेला था। वास्तव में यह कोई पात्र नहीं है, वह सिर्फ गाता है। नाटक में बाद में ये दोनों वाचक इकट्ठा गाते हैं। यह हमारा पहला बड़ा नाटक था। हमने इसकी लगभग पैंतीस प्रस्तुतियाँ कीं।

बाद में 'भारत-भाग्य-विधाता' जन नाट्य मंच के अलावा अन्य अनेक नाट्य मंडलियों द्वारा मंचित किया गया, लेकिन एक नाटककार के रूप में वैसी संतुष्टि मुझे बाद की किसी प्रस्तुति से नहीं मिली। सफदर की हत्या के बाद तो यह नाटक मेरे लिए एक दुखद प्रसंग-सा भी बन गया। अपने संस्मरण 'सफदर मेरा हमसफर' में मैंने लिखा है- ''कैसी विडंबना है कि 1973 में मंचित इस नाटक में केंद्रीय पात्र गोपू को चुनाव में खड़े हुए एक कांग्रेसी राजा के गुंडे लाठियों से पीट-पीटकर मार डालते हैं। और इस नाटक से जन नाट्य मंच की शुरुआत करने वाले सफदर हाशमी को 1989 के पहले दिन एक चुनाव के ही दौरान कांग्रेस के गुंडों ने लाठियों से पीट-पीटकर मार डाला।''

1974 में एक नाटक 'सफाई चालू है' मैंने आनंद प्रकाश के साथ मिलकर लिखा। लेकिन वह पुस्तक रूप में प्रकाशित होकर ही रह गया, मंचित नहीं हो पाया। उन्हीं दिनों की बात है, मेरी साली नीलिमा शर्मा और मेरे साढू भाई शम्सुल इस्लाम ने नुक्कड़ नाटक करने वाली एक नाट्य संस्था बनायी निशांत नाट्य मंच। उसके लिए उन्होंने मुझसे एक नुक्कड़ नाटक लिखने के लिए कहा और मैंने चेखोव की कहानी के आधार पर 'गिरगिट' नामक नुक्कड़ नाटक लिखा। यह मेरा पहला नुक्कड़ नाटक था और निशांत नाट्य मंच का भी पहला नाटक। इस प्रकार जन नाट्य मंच की तरह ही निशांत नाट्य मंच की शुरुआत भी मेरे नाटक से हुई।

मेरी गिनती हिन्दी में नुक्कड़ नाटक की नयी विधा शुरू करने वाले नाटककारों में होती है। नुक्कड़ नाटकों का हिन्दी में जो पहला संकलन निकला था (चंद्रेश द्वारा संपादित और राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित), उसमें मेरा पहला नुक्कड़ नाटक 'गिरगिट' शामिल था। 'गिरगिट' के अब तक विभिन्न नाट्य मंडलियों के द्वारा हजारों प्रदर्शन हो चुके हैं। हिन्दी में ही नहीं, अन्य अनेक भाषाओं में भी। और भारत में ही नहीं, नेपाल तथा पाकिस्तान में भी। इसके बाद मैंने 'हरिजन दहन', 'राजा की रसोई', 'हिंसा परमोधर्मः', 'ब्रह्म का स्वांग', 'समरयात्रा' आदि कई नुक्कड़ नाटक लिखे हैं और ये भी सैकड़ों बार तथा विभिन्न भाषाओं में जनता के बीच प्रदर्शित हो चुके हैं। अपने बच्चों के कहने पर (उनके द्वारा स्कूल में खेले जाने के लिए) मैंने दो बाल नाटक लिखे 'तमाशा' और 'बच्चों की अदालत' और ये बहुत लोकप्रिय बाल नाटक हैं। आज भी स्कूलों में खेले जाते हैं। 'बच्चों की अदालत' तो एक पाठ्य पुस्तक में भी संकलित हुआ है। बच्चों के लिए लिखा गया मेरा एक और नाटक 'हाथी डोले गाम-गाम' गत वर्ष (2009) भोपाल से निकलने वाली बाल विज्ञान पत्रिका 'चकमक' में प्रकाशित हुआ और तत्काल ही स्कूलों में बच्चों द्वारा खेला जाने लगा।

'भारत-भाग्य-विधाता' जन नाट्य मंच के अलावा अन्य अनेक नाट्य मंडलियों द्वारा मंचित किया गया, लेकिन एक नाटककार के रूप में वैसी संतुष्टि मुझे बाद की किसी प्रस्तुति से नहीं मिली। सफदर की हत्या के बाद तो यह नाटक मेरे लिए एक दुखद प्रसंग-सा भी बन गया। अपने संस्मरण 'सफदर मेरा हमसफर' में मैंने लिखा है- ''कैसी विडंबना है कि 1973 में मंचित इस नाटक में केंद्रीय पात्र गोपू को चुनाव में खड़े हुए एक कांग्रेसी राजा के गुंडे लाठियों से पीट-पीटकर मार डालते हैं। और इस नाटक से जन नाट्य मंच की शुरुआत करने वाले सफदर हाशमी को 1989 के पहले दिन एक चुनाव के ही दौरान कांग्रेस के गुंडों ने लाठियों से पीट-पीटकर मार डाला।''

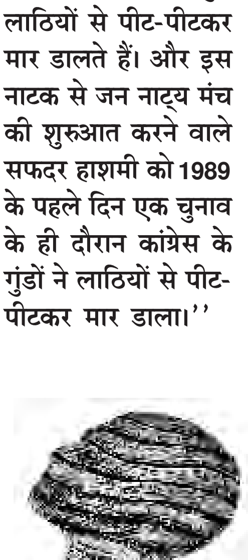

हिन्दी नाटक : कुछ सुझाव

मेरा नाटक लिखना जारी है और मैं भविष्य में भी नाटक लिखते रहना चाहता हूँ। लेकिन मैं एक नाटककार के रूप में अपने अनुभवों के आधार पर यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी में नाटक लिखने और लिखते रहने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करने वाला वातावरण बिलकुल नहीं है। इसके लिए किसी को दोष देने के बजाय मैं उचित वातावरण बनाने के लिए कुछ सुझाव देना चाहता हूँ :

1. जो लोग यह शिकायत करते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक नहीं हैं, या नहीं लिखे जा रहे हैं, वे अव्वल तो यह देखें कि ऐसे वक्तव्य कहीं उनके अज्ञान या अहंकार के सूचक तो नहीं हैं। दूसरे, यदि उन्हें लगता है कि वास्तविकता यही है, तो शिकायतें करते रहने और इस बहाने दूसरी भाषाओं से अनूदित नाटक करते रहने के बजाय वे लेखकों को नाटक लिखने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करें और जिन कारणों से लेखक नाटक लिखना नहीं चाहते या लिखना बंद कर देते हैं, उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न करें।

2. हिन्दी पिछड़ी हुई या दरिद्र भाषा है, उसमें कुछ भी अच्छा नहीं है और न हो सकता है, ऐसा सोचने वाले और अनुवादों से काम चलाने वाले रंगकर्मी हिन्दी में अच्छे नाटक लिखने वालों को आकर्षित करने के बजाय हतोत्साह ही करते हैं और इस प्रकार स्वयं हिन्दी भाषा और रंगकर्म को दरिद्र बनाते हैं। यदि वे सचमुच चाहते हैं कि हिन्दी में अच्छे नाटक लिखे जायें, तो उन्हें चाहिए कि वे हिन्दी भाषा से प्यार करना और हिन्दी लेखकों का आदर करना सीखें। वे हिन्दी में अच्छे नाटक न होने का रोना रोने और अनुवादों से काम चलाने की आदत छोड़ें और हिन्दी नाटक तथा रंगकर्म को समृद्ध बनायें।

3. हिन्दी में नाटक करने वालों का एक आवश्यक कर्तव्य है कि वे हिन्दी में लिखे जा रहे अच्छे-बुरे सब तरह के नाटकों पर ध्यान दें और अच्छे नाटकों की प्रशंसा तथा खराब नाटकों की आलोचना करें। नाट्य कला की अपनी सोच-समझ, विचारधारा, राजनीति या नाटककारों के बारे में अपनी निजी पसंद-नापसंद के आधार पर किसी खास तरह के नाटकों को चुन लेने और दूसरी तरह के नाटकों की उपेक्षा करने या उनके प्रति उदासीनता बरतने के बजाय उनकी आलोचना करें, उनके लेखकों से संवाद करके उन्हें बतायें कि आपके विचार से अच्छा नाटक क्या है और उनका पक्ष भी धैर्यपूर्वक, साथी भाव से तथा जनतांत्रिक ढंग से सुनें।

4. नाटकों के निर्देशक इस ओछे अहंकार से मुक्त हों कि नाटक निर्देशक का माध्यम है। यदि उन्हें यह अहंकार कायम रखना है, तो वे दूसरों के लिखे हुआ नाटकों में फेर-बदल करने के बजाय अपने नाटक स्वयं लिखें। यदि वे किसी और का नाटक करते हैं, तो नाटक और नाटककार का आदर करना सीखें। विनम्रतापूर्वक यह समझने का प्रयास करें कि नाटक क्या कहता है और नाटककार क्या कहना चाहता है। यदि उन्हें लगे कि वे भी अपने निर्देशन द्वारा वही कहना चाहते हैं, तो ही उस नाटक को उठायें। यदि आप उस नाटक के माध्यम से अपनी अलग व्याख्या के अनुसार कुछ और कहना चाहते हैं, तो नाटककार को बुलायें, उससे बात करें और यदि वह आपकी भिन्न व्याख्या से सहमत हों तथा उसके अनुसार नाटक में परिवर्तन करने की अनुमति दें, तब ही उसमें परिवर्तन करें। यह नहीं कि आप किसी का कोई भी नाटक उठा लें और उसे अपनी मर्जी या सनक के मुताबिक कुछ का कुछ बनाकर प्रस्तुत कर दें, जैसा कि हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में एक आम रिवाज-सा बन गया है।

5. यदि आप सचमुच हिन्दी में अच्छे नाटकों के अभाव की चुभन महसूस करते हैं, तो अपने भीतर झाँककर देखें कि हिन्दी भाषा और हिंदी भाषी जनता से आपको कितना प्यार और लगाव है। यदि पायें कि वह प्यार और लगाव आपमें है, तो हिन्दी में अच्छे नाटक न मिलने पर अन्य भाषाओं के देशी-विदेशी अच्छे नाटकों को उठा लेने की 'सुविधा' होने पर भी आप हिन्दी में उपलब्ध उन नये नाटकों को उठाने की सोचें, जो आपको 'दुविधा' में डालते हैं। व्यावसायिक सफलता संदिग्ध होने की जोखिम उठाकर भी हिन्दी के नाटक करने को अपनी प्राथमिकता बनायें। लिखे जा चुके नाटकों को बेहतर बनाने के लिए उनके लेखकों के साथ संवाद करें। नये नाटक लिखवाने के लिए नये लेखकों को प्रेरित करें, उनकी सहायता करें, उन्हें सामने लायें, उन्हें उचित महत्व दें।

6. हिन्दी में अच्छे नाटकों के अभाव का एक मुख्य कारण यह भी है कि नाटकों के निर्माता और निर्देशक हिन्दी में लिखे गये नाटकों का सिर्फ 'इस्तेमाल' करते हैं। उन्हें वे अपनी अभिरुचि, समझ या राजनीति के अनुसार बदलते हैं और ऐसा करने के लिए लेखक से अनुमति लेना तो दूर, उसे सूचित भी नहीं करते। अपने अनुभव के आधार पर मुझे बड़े खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि नाटकों के मंचन करने वाले लोग नाटककार से अनुमति लेना और उसे नाटक की रॉयल्टी या पारिश्रमिक देना जरूरी नहीं समझते। नाटककारों के साथ ऐसा व्यवहार हिन्दी के अलावा शायद ही किसी और भाषा में होता हो। अतः यदि आप सचमुच हिन्दी में अच्छे नाटक लिखवाना चाहते हैं, तो नाटककारों की कद्र करना सीखें। ध्यान रखें कि नाटककार को भी अपना पेट और परिवार पालना होता है। वह मुफ्त में नाटक लिखकर साहित्य और रंगमंच की सेवा अधिक दिनों तक नहीं कर सकता। अतः नाटक मंचित करने के लिए बाकायदा अनुमति लें और नाटककार को रॉयल्टी या पारिश्रमिक दें। यदि नाटक में कोई परिवर्तन करना चाहते हों, तो नाटककार की अनुमति और सहमति से करें। बेहतर हो कि नाटक की रिहर्सल में नाटककार को शामिल करें और कम से कम पहली प्रस्तुति में उसे बुलाकर नाटक दिखायें और दर्शकों से उसका परिचय करायें।

मुझे पूरा विश्वास है कि उपर्युक्त सुझावों पर अमल किया जाये, तो हिन्दी नाटक और रंगकर्म समृद्ध होगा और यह शिकायत हमेशा के लिए दूर हो जायेगी कि हिन्दी में अच्छे नाटक और नाटककार नहीं हैं।

भविष्य के नाटक की आहट

विलास गुप्ते

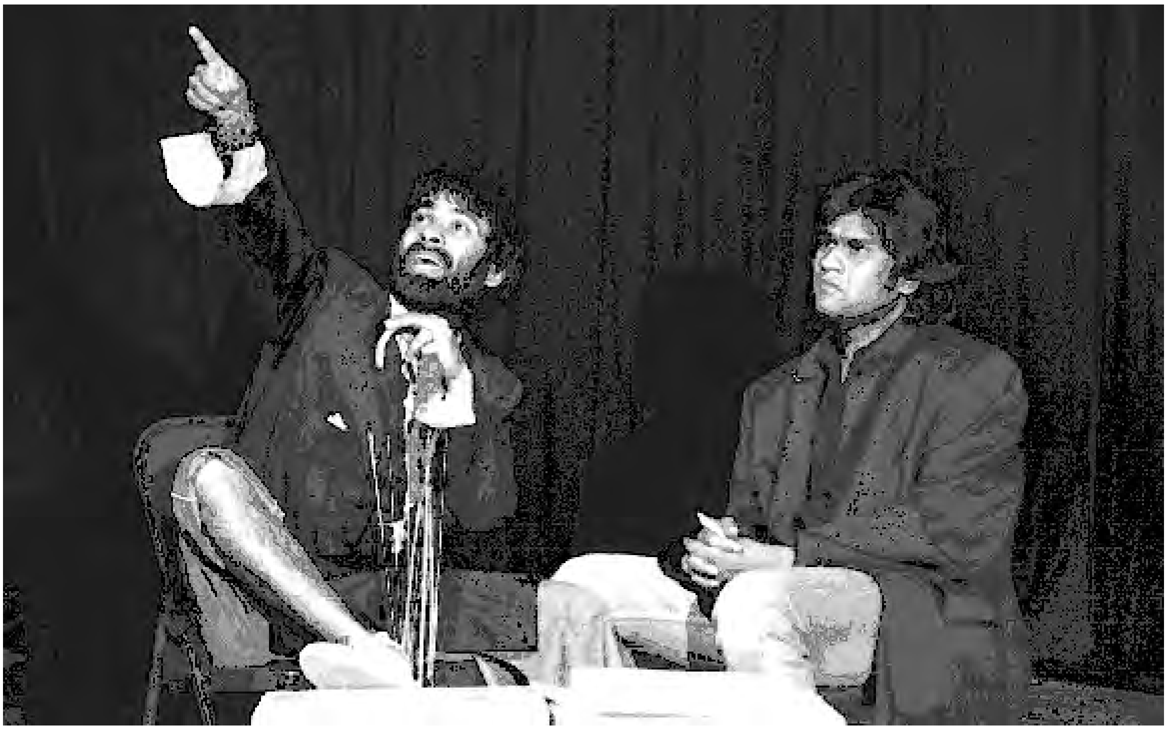

भविष्य को लेकर चिंतन सिर्फ ज्योतिषी ही नहीं करते, वैज्ञानिक और शास्त्रज्ञ भी करते हैं। ये लोग आकाशगामी कल्पना नहीं करते, ठोस जमीन पर पैर रखकर यथार्थ का अनुशीलन करते हैं। अध्ययन-मनन-निष्कर्ष उनकी कार्य-पद्धति है। विज्ञान के क्षेत्र में तो यह किया ही जाता है, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि ज्ञान की शाखाओं में भी वर्तमान स्थिति का विभिन्न कोणों से अध्ययन कर उसके भविष्य के बारे में बताया जाता है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में समायोजन करते हुए वर्तमान के भावी स्वरूप को बताने वाला शास्त्र भविष्य-शास्त्र (futurology) कहा जाता है। इसके अंतर्गत वर्तमान स्थिति के भौतिक-विकास शैली, वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रभाव आदि का विस्तृत अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। फिर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि काल-गति के हिसाब से आगे चलकर कैसे-क्या परिवर्तन हो सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की आरंभिक स्थिति में कुछ तुनकमिजाज या आत्ममोहित निर्देशकों ने यह शगल बना रखा था कि हिन्दी में अच्छे नाटक नहीं पाये जाते। हिन्दी नाटक की वर्तमान स्थिति का परीक्षण करने पर हम यह पाते हैं कि अब हिन्दी रंग-जगत में सीधे हिन्दी से जुड़े निर्देशकों का प्राधान्य है। हिन्दी-धारा से जुड़े रंगमंच को कितना ही भाषा-निरपेक्ष बताने की कोशिश करें हकीकत यह है कि अभिनय का भाषिक पक्ष दर्शकों को सर्वाधिक प्रभावित करता है। संस्कृत नाटककारों ने वाचिक - अभिनय का पूरा ध्यान रखा, इसी कारण संस्कृत रंगमंच समृद्ध बना। हिन्दी के नाटककार भी नाट्य भाषा को मांज कर चमका चुके हैं व हिन्दी निर्देशकों की उनके साथ समुचित जुगलबंदी की परंपरा विकसित हो चुकी है। हिन्दी रंगमंच को अनुवाद का रंगमंच के ठप्पे से बचाने में दोनों की साझेदारी उल्लेखनीय रही है। पहले नामी गिरामी निर्देशक हिन्दी नाटक को एहसान की मुद्रा में उठाते थे। अब यह स्थिति बन रही है कि हिन्दी नाटक रंगमंच पर सिर ऊँचा कर विचरण कर सकते हैं।

उसी के साथ यह भी दृष्टव्य है कि साक्षरता के विकास के बाद अखबारों के माध्यम से लोगों में सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक जागृति आयी। गांधीजी ने 'कोऊ नृप होऊ हम का हानि' के मिथक को तोड़ा तो स्वतंत्रता के बाद राजनीति के क्षेत्र में खुलते वेश्यावृत्ति के अड्डों के देखकर जनता ने अपने पाँच साला हथियार का उपयोग करना सीखा। यह साक्षरता का ही परिणाम था कि अखबार भरे पेट वालों की सुविधा की वस्तु न बन कर आम जनता के संघर्षों के प्रतिबिंब बन गये। साक्षरता बढ़ी तो शिक्षा के विभिन्न चरणों का विकास हुआ। लोग शिक्षित हुए तो उनमें कलाओं के प्रति अभिरुचि जागृत हुई। नाटकों के प्रति रुझान भी इसी सांस्कृतिक यात्रा का एक चरण है। एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि पहले हिन्दी नाटक कुछ प्रमुख शहरों तक ही सीमित थे, अब उनका विस्तार कस्बों तक हो रहा है। मेरे इस कथन से यह खुशफहमी हो सकती है कि शहरों में हिन्दी रंगमंच स्थापित हो चुका है। इसलिए यह स्पष्ट करना जरूरी है कि शहरों में भी अभी नाटक मासिक अनुष्ठान नहीं बन सका है। वह अधिक मास की

पूर्णिमा या सोमवती/शनिश्चरी अमावस्या की तरह साल-छह महीने में एकाध बार आने वाले अवसर की तरह बना हुआ है। अभी भी शहरों में ऐसे लोग मिल जायेंगे, जिन्होंने बरसों से नाटक नहीं देखा होगा। तसल्ली की बात यह है कि अब शहरों-कस्बों में नाट्यमंडलियों का विस्तार हो रहा है। मनोवैज्ञानिक तौर पर इसका कारण यही है कि सुशिक्षित वर्ग अब सांस्कृतिक रूप से जागृत हो रहा है। शायद वह भी इसमें वह खोज रहा है, जो उसे अन्य माध्यमों से नहीं मिलता।

कुछ अहितकर परिस्थितियों के बलवती होते जाने का लाभ भी नाटक को मिल रहा है। जैसा कि हम सब जानते हैं, वर्तमान में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद वेश बदल कर सामने आ रहे हैं। कहा जा सकता है कि रावण साधु के रूप में आ रहा है। वैश्विकता, आर्थिक विकास, मुक्त व्यवस्था, आनंदलोक का निर्माण आदि के नाम पर सर्वत्र स्वस्थ परंपराओं की हत्या की जा रही है। अपसंस्कृतिजन्य निरपेक्ष, व्यक्ति - केंद्रित सुख का उत्तर-आधुनिकता के नवीनतम संस्करण के नाम पर तिलक किया जा रहा है। विचार को गैरजरूरी बता कर सिर्फ भौतिक सुख पर बल दिया जा रहा है। विचारशून्यता एक ऐसी कोलाहल भरी अँधेरी सुरंग है, जहाँ दैहिक सहवास का सुख तो उठाया जा सकता है, पर पारिवारिक, सामाजिक, मानवीय मूल्यों से हाथ धोना पड़ता है। बहुत कोशिशों के बावजूद साहित्य तो इसकी पकड़ में नहीं आया, कि शासन के गैरजिम्मेदार रुख के कारण सिनेमा व टी.वी. माध्यम स्तरहीन सौदागरों की गिरफ्त में आ चुका है। दरअसल, सत्ता पर काबीज लोग जानते हैं कि यदि जनता में जागरूकता आयी, तो वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो जायेंगे और अपना हक मांगेंगे। एक बनी बनायी योजना के तहत जनता को नशे का आदी बनाया जा रहा है। जनता कहीं अपनी दुर्दशा के कारणों को खोज कर उसका निदान पाने के लिए सक्रिय न हो जाये, इसलिए मायावी जाल बिछाया जा रहा है। निम्नस्तरीय, कामोत्तेजक व असामाजिक सीरियलों व फिल्मों की भरमार जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं से हटाने का एक साधन है। इसमें कई गिरोह शामिल हैं। भ्रष्ट व्यवसायी, अफसर, राजनेता मिलकर हमें सांस्कृतिक तौर पर दीवालिया करने पर तुले हैं। यही स्थिति नाटक के पक्ष में जा रही है। चूंकि नाटक का क्षेत्र अभी भी धीर-गंभीर और समर्पित लोगों के हाथों में है, अतः विचारवान लोग इससे काफी अपेक्षाएँ रखते हैं। यदि नाटक दर्शक को मनोरंजन के साथ-साथ वैचारिक ऊर्जा भी दे सके तो वह स्वागतयोग्य होगा। यह एक आशाजनक संकेत है कि नाटक अभी तक तो प्रलोभन से दूर न लाभ, न हानि के आधार पर चल रहा है। इसी आदर्श स्थिति के बलबूते पर भविष्य में नाटक द्विअर्थी संवादों एवं अशालीन प्रवृत्तियों से बचा रह सकेगा। समाज के प्रति गैरजिम्मेदार रुख, कलात्मकता का ह्रास, अप-संस्कृति को प्रोत्साहन-संरक्षण आदि वायरस नाटक में पहुंचने की संभावना कम ही नजर आती है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों की काँव-काँव लंबे समय तक नहीं चल सकती, क्योंकि समझदार लोग तोते पालना पसंद करते हैं, कौए नहीं।

दिन-रात मशीनों से घिरा रहने वाला मनुष्य अब मशीनीकृत सौंदर्य से ऊब चुका है। हस्त निर्मित वस्तुओं के प्रति उसका झुकाव बढ़ा है। नाटक एवं रंगमंच एक ऐसा क्षेत्र है, जो मुख्यतः मानव-आधारित कर्मों पर निर्भर है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों की प्रस्तुत अपचन की हद तक पहुंच चुकी है। नाटक में नवीनता के लिए गुंजाइश बनी रहती है। यह नावीन्य मनुष्यकृत होता है। वर्तमान में भौतिक 'प्रॉपर्टी' के स्थान पर अभिनयकर्मियों के शरीर को ही 'प्रॉपर्टी' के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में हस्त एवं पद मुद्राओं का विस्तार से विवेचन किया गया है। इनसे विभिन्न दृश्य बंध एवं समूहन तैयार किये जा सकते हैं। उसी प्रकार लोक धारा के नाट्य मंच से भी काफी कुछ लेकर प्रस्तुत को अभिनव तथा प्रीतिकर बनाया जा सकता है। लोकनाट्य में झाड़ू, डंडा, तलवार आदि के माध्यम से कई तरह के दृश्यबंध तैयार किये जाते हैं। उसी तरह शारीरिक मुद्राओं को भी 'संवाद' बनाया जाता है। ऐसे प्रयोग दर्शकों को अपनी कल्पना-शक्ति को तौलने का आत्मिक आनंद देते हैं। भविष्य का रंगमंच स्थूल न होकर सांकेतिक होगा। अब दर्शकों के लिए इतनी पीठिका तो तैयार हो ही गयी है कि उनकी समझ पर भरोसा किया जा सकता है। इसका

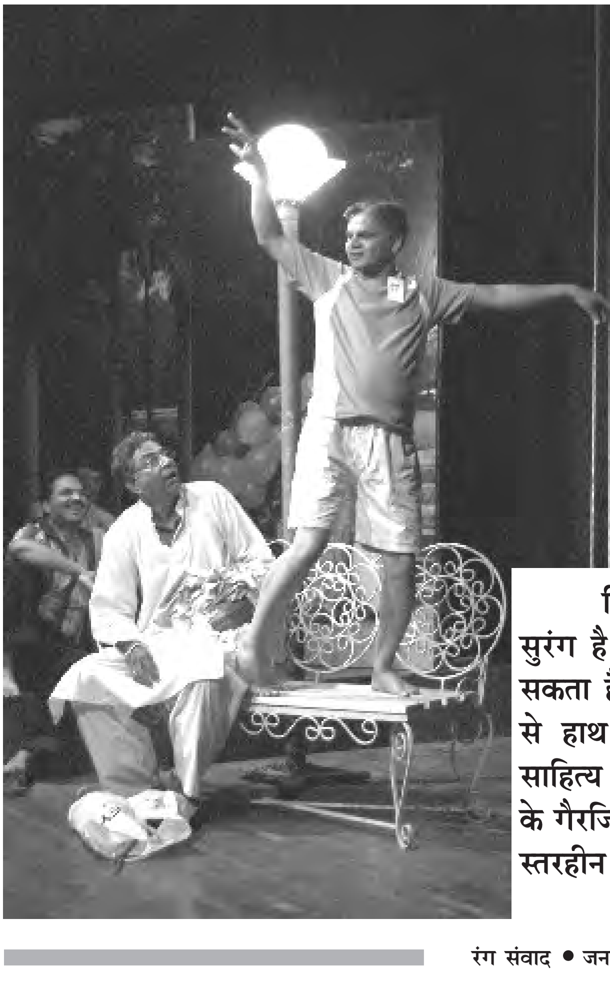

विचारशून्यता एक ऐसी कोलाहल भरी अँधेरी सुरंग है, जहाँ दैहिक सहवास का सुख तो उठाया जा सकता है, पर पारिवारिक, सामाजिक, मानवीय मूल्यों से हाथ धोना पड़ता है। बहुत कोशिशों के बावजूद साहित्य तो इसकी पकड़ में नहीं आया लेकिन शासन के गैरजिम्मेदार रुख के कारण सिनेमा व टी.वी. माध्यम स्तरहीन सौदागरों की गिरफ्त में आ चुका है।

हमें अगला लक्ष्य दर्शक को बनाना है। उसे इस मानसिकता तक लाना है कि वह नाटक को सश्रम कारावास तो नहीं ही समझे, संवेदना के स्तर पर विचारात्मक-भावात्मक आनंदानुभूति समझे।

परिणाम नाट्य-निर्देशकों पर पड़ेगा, जो 'परदा हटाओ, परदा गिराओ' से काफी आगे चलकर द्विस्तरीय व त्रिस्तरीय दृश्य योजना तक का सफर पूरा कर लेंगे। रुझान देखते हुए लग रहा है कि भविष्य में नाटकों में यांत्रिकी-उपकरणों का प्रयोग कम होगा। टी.वी.-सिनेमा के मुकाबले टिके रहने हेतु जरूरी है कि अलग हट कर कुछ बताया जाये। कथ्य में आत्मसाक्षात्कार तो रहेगा ही, साथ में दृश्यबंध, समूहन आदि के द्वारा नाटक कल्पनाशीलता से जुड़ेगा। टी.वी. के सीरियल जहाँ 'ममी' का आभास देते हैं, वहीं नाटक में जीवंतता का स्पर्श होता है। कलाविद् और कला-प्रेमी जानते हैं कि अपनी तमाम चमक धमक, साधन-सम्पन्नता व मायावी आकर्षण के बावजूद इलेक्ट्रॉनिक प्रस्तुतियों में प्राण नहीं होते। नाटक में अभिनयकर्मियों और दर्शकों के दृश्य साथ-साथ धड़कते हैं, जबकि इतर माध्यमों में दर्शक का उत्साह परदे के उस पार नहीं जा सकता। दर्शक की मनो-शारीरिक प्रतिक्रिया प्रस्तुति में समानांतर संवाद की भूमिका अदा करती है।

ऊपरी तौर पर यह कथन विवादास्पद लग सकता है, पर यह हकीकत है कि कलाभिरुचियों का अब सीधे-सीधे विभाजन हो चुका है। देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों में कार्यरत, मॉल-संस्कृति के उपासक, गैर-कानूनी आमदनी के समर्थक, राष्ट्र व राष्ट्रभाषा (या मातृभाषा) को एक पिटा हुआ चुटकुला तथा करियर को अंतिम सत्य समझने वाले लोग एक तरफ हैं। दूसरी तरफ दलित पीड़ित वंचित वर्ग के साथ मानवीय संवेदनाओं से संलग्न, आम आदमी की दुर्दशा को लेकर क्रुद्ध, सामूहिक कल्याण के समर्थक और मायावी षडयंत्र को समझने और भेदने में बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न लोग हैं। बीच में अर्द्धशिक्षित या अशिक्षित और लाचारियों के चलते भ्रम में जी रहे लोग हैं। दिशा संकेत यह है कि आगे चलकर पहला वर्ग कुरुचिपूर्ण मनोरंजन को वरीयता देगा, जबकि दूसरा वर्ग (तमाम तरह की धोखाधड़ियों, बहकावों, कुशंकाओं के बावजूद) सुरुचिपूर्ण मनोरंजन से प्रतिबद्ध रहेगा। तमाम संस्कृतिकर्मियों और सामाजिक-राजनीतिक रूप से जागृत लोगों का यह सामूहिक दायित्व होगा कि न सिर्फ अपने वर्तमान और भावी आश्रयदाताओं का विश्वास बनाये रखें, बल्कि प्रथम श्रेणी के दर्शकों को मूर्खों की काल्पनिक दुनिया से बाहर लाने की कोशिश भी करें।

नाट्य प्रेमियों और नाट्य कर्मियों की तो विशेष जिम्मेदारी बनती है। नाट्य-प्रशिक्षण, परिसंवाद, नाट्य-प्रस्तुतियों के साथसाथ रंगमंचीय गतिविधियों में दर्शकों की समुचित भागीदारी की ओर भी ध्यान देना होगा। इसके लिए विशेष सर्वेक्षण तथा योजनाओं की आवश्यकता है। नाट्यलेखन, नाट्यकर्म, नाट्यसमीक्षा को लेकर तो काफी कुछ होता रहता है, हमें अगला लक्ष्य दर्शक को बनाना है। उसे इस मानसिकता तक लाना है कि वह नाटक को सश्रम कारावास तो नहीं ही समझे, संवेदना के स्तर पर विचारात्मक - भावात्मक आनंदानुभूति समझे।

भारतीय रंगमंच के काल संवादी स्वर

लोक मंगल न्यास, भोपाल द्वारा पंडित ईश नारायण जोशी स्मृति व्याख्यान माला के अंतर्गत संस्कृत साहित्य के प्रकांड अध्येता आचार्य श्रीनिवास रथ के लंबे व्याख्यान के सम्पादित अंश।

श्रीनिवास रथ

तत्त्वार्थदर्शिधिषणाभरणप्रवीणां, वीणागुणस्वरसमीरणलब्धवर्णाम्।
वाणीमणीयसि चिदावरणे निषण्णा। पुण्य प्रमेय चरणां शरणं प्रपद्ये।।

सौ वर्ष पहले भारतीय रंगमंच के नाम से किसी चीज को पहचानना बड़ा कठिन था। पारसी थिएटर का जमाना था और हमारे नाट्य के विशेषज्ञ लंदन से पढ़कर आया करते थे। स्वयं हबीब तनवीर, अलकाजी। सामान्यतः अपने स्कूल-कॉलेजों के हॉल बनते रहे हैं, थोड़ा-सा वृत्ताकार सामने से है और एक परदा लटका है, इस तरह स्टेज परसियन थिएटर का वो स्टेज होता था और विक्टोरियन कला उसका प्रतिनिधित्व करती थी। नाट्य शास्त्र के बड़े, मध्यम और तिकोने रंगमंच से हमारा कोई परिचय नहीं था। उस पर कहीं भारतीय रंगमंच नहीं था।

'कालिदास समारोह' प्रारम्भ हुआ 1958 में। उसके प्रेरणास्त्रोत डॉ. कैलाशनाथ काटजू और पण्डित व्यास थे (म.प्र. के तत्कालीन मुख्यमंत्री)। परन्तु, काटजू जी की अपनी निष्ठा के कारण वह समारोह उज्जैन में शुरू हुआ। तत्कालीन प्रशासक उस समय कालिदास समारोह को भोपाल में भी करने के लिए राजी नहीं थे। भोपाल में पर्याप्त इंफ्रास्ट्रक्चर नहीं थे। होटल नहीं थे, दूसरी आवासीय व्यवस्था नहीं थी। 1958 में एक 'कैपिटल होटल' मात्र ठीक-ठाक होता था। कोई लम्बा-सा। प्रशासक चाहते थे कि कालिदास समारोह दिल्ली में हो। काटजू साहब कहते रहे- नहीं, उज्जैन। तब उज्जैन में कोई होटल नहीं था। कोई आवासीय व्यवस्था भी नहीं थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित ओंकारनाथ ठाकुर जैसे महान व्यक्तित्वों को अस्पताल के इमरजेन्सी वार्ड से, कुछ रिंग लगे हुए पलंग का इंतजाम कर महाराज बाड़ा हायर सेकेण्डरी स्कूल के कमरों में ठहराया गया।

दूसरे वर्ष श्री अनन्तशयनं आयंगर माधव कॉलेज के द्वार पर न्यायमूर्ति ए.जी. के साथ आए। नेहरूजी उज्जैन आकर इंदौर चले गए। कोई दौड़कर हमारे पास आए। कुरैशी उस समय मेरे पास बैठे हुए थे, जो यहाँ जज रहे हैं, लॉ सेक्रेटरी रहे हैं। उन्होंने कहा- जाओ पंडित!

तुम्हारे यहाँ कोई आया है। पहुंचे तो दरवाजा खोलते ही कहते हैं- आई अनन्तशयनं आयंगर, स्पीकर लोकसभा। अण्डरस्टैण्ड? आई वाज स्टेइंग विथ योर गवर्नर पाटसकर जी। पाटसकर गोन टु इन्दौर, एवरीबडी गोन टु इन्दौर। दे आस्क मी कम टु इन्दौर। नेहरू जी इज़ गोइंग टु इन्दौर। आई सी हिम एवरी डे। आई हैव कम टु अटैण्ड दि कालिदास समारोह फ्रॉम स्टेट फ्रॉम जिनीवा। वेयर एम आई टु स्टे?

लोकसभा का स्पीकर उज्जैन के एक कॉलेज के सामने आकर पूछ रहे हैं कि मैं कहाँ ठहरूँ? आज की पीढ़ी को विश्वास नहीं होगा। ''देअर इज वन सेठी जी हियर, ही वन्स आस्कड मी।'' तब ध्यान आया कि लालचन्द्र सेठी की बात कर रहे हैं। हम उनको वहाँ लेकर गये। वहाँ ठहराया।

यह न कुछ में कुछ पैदा करने का जो महात्म्य है, वो उन लोगों की आँखों में होता है, जो भविष्य का निर्माण करते हैं। तब जो स्टेज बनाया गया, जिसमें रुक्मिणी देवी अरुण्डेल पहले वर्ष ही अपना ट्रुप लेकर कला क्षेत्र मद्रास से आई थीं। तब भाऊ खिरवड़कर यहाँ थे। भोपाल से वह आया करते थे स्टेज का निर्माण करने। एक मखमली परदा लगा हुआ, उस परदे को खींचने के लिए गिर्री नहीं थी, वह अटक जाता था। दो जने दौड़कर उसको इधर से उधर करते थे। गिर्री, विंग और फर्श सुधरते गये और अगले पन्द्रह बरसों तक उसी रंगमंच पर संस्कृत नाटक भी होते रहे। गोवर्धन पांचाल जी ने पहली बार 1974 में नाट्यशास्त्र के अनुरूप एक मंच कालिदास समारोह के लिए तैयार कराना शुरू किया और तब से एक चर्चा चली कि भारतीय रंगमंच क्या है? संस्कृत के पंडित, अलग बैठे हुए हैं, उनका एक पक्ष है। वो लोकनाट्य (फोक थियेटर) को वर्तमान नाट्यशास्त्र के दृष्टिकोण से देखते हैं या कुछ कहते हैं। परन्तु रंगमंच की जो आवश्यकता है, रंगमंच का जो यथार्थ है, रंगमंच के कलाकार जिसको भोग रहे हैं- उससे उनका सम्बन्ध नहीं। वो शास्त्र की बात करते हैं। तो कई वर्षों तक, अर्थात् करीब-करीब पाँच या छः वर्ष तक ये चर्चा चलती रही कि रंगमंच कैसा? हबीब तनवीर जी ने 'किसका बेटा' करके एक छोटा-सा नाटक तैयार किया और स्वीकार किया कि भारतीय रंगमंच की जो प्रस्तावना है, जो पूर्वपीठिका है, वो क्या महत्व रखती है? इस बात को लेकर आकाशवाणी पर अपने इन्टरव्यू में कहा कि अब तक ये पंडित जो कहा करते थे वह हमें समझ में नहीं आता था, हमारी बात इन्हें समझ में नहीं आती थी।

काल संवादी स्वर अर्थात् नाटकों का जो सामाजिक या समाज के साथ जुड़ी हुई उपयोगिता है या उसकी सार्थकता है- उसको रेखांकित करता था। कालिदास के समय तक आते-आते कालिदास को यह पता नहीं चला कि आखिर यह 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक क्यों लिखा गया?

अब हम समझ रहे हैं कि भारतीय रंगमंच क्या है? हमने तो नाटक ग्रीक थिएटर से सीखा- कठपुतली नृत्य और सूत्रधार। सिद्धांत बी.ए. के कोर्स में पढ़ाये जाते थे। तीन-चार प्रश्न आते थे, उनमें से हम जवाब लिख दिया करते थे। हम जानते ही नहीं थे अपनी धरती के नाटक को।

पंडित बलदेव उपाध्याय, पद्मभूषण पंडित बलदेव उपाध्याय अपनी लाइफ में कभी भी प्रोफेसर नहीं बन पाए। विश्वविद्यालयीन जो परिलब्धियाँ होती हैं, उनमें वे केवल 'रीडर' ही रहे। सौ से अधिक पुस्तकें लिखने वाले।। भारतीय वाङ्मय में श्री राधा से सब परिचित हैं। शंकराचार्य के प्रामाणिक जीवन को हाईकोर्ट ने स्वीकार किया। पंडित बलदेव उपाध्याय की किताब वैदिक साहित्य का इतिहास, संस्कृ साहित्य का इतिहास - हम पढ़ते थे, क्योंकि वे हिन्दी में लिखते थे। इसलिए वह सेकेण्ड ग्रेड माने जाते थे। हिन्दी में जिसने कोई पुस्तक लिखी है या हिन्दी किताब को पढ़ा है- तो ऐसा मानते थे कि यह लड़का सेकेण्ड ग्रेड है, इसको अंग्रेजी नहीं आती, इसलिए हिन्दी पढ़ रहा है। एस.एन. दासगुप्ता नहीं पढ़ रहा है, बल्कि पंडित बलदेव उपाध्याय की किताब पढ़ रहा है, बल्कि पंडित बलदेव उपाध्याय की किताब पढ़ रहा है। परन्तु उसे पढ़कर भीतर हमारे रक्त में कुछ संचार होता था भावनाओं का।

यवनिका शब्द यौवन से जुड़ा है

संस्कृत साहित्य के इतिहास की अपनी पुस्तक में लिखा कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति को ग्रीक रंगमंच से कहा जाता है। 'यवनिका' शब्द 'यौवन' से जुड़ा हुआ है। इसलिए यवनिका अर्थात् परदे का प्रयोग होता है। इसलिए भारतीय रंगमंच ग्रीक प्रभाव से शुरू हुआ। ग्रीक प्रभाव है इस पर। परन्तु ग्रीक थिएटर में तो परदा होता ही नहीं था। तो फिर वहाँ से परदा कैसे आया? फिर उन्होंने लिखा कि संस्कृत का शब्द का 'पटी' के लिए होता है, वह 'जवनिका' है- 'यवनिका' शब्द नहीं है। अमरकोष भी कहता है 'जवनिका' शब्द है। हमारी रंगपट्टिका होती थी, जिससे कि पात्र का प्रवेश होता था। वह अलग समय था, जब हम स्वतंत्र नहीं हुए थे। हम लोगों को एक नई चेतना मिलती थी ऐसे दो-चार वाक्य पढ़कर।

फिर जब हबीब तनवीर, अलकाजी आदि रंगकर्मी भी इधर मुड़े। भारतीय रंगमंच पर बड़े-बड़े प्रश्न आने लगे। हम लोगों ने तब एक भास नाट्य समारोह किया था। उसमें एम.के. रैना ने चार नाटक डायरेक्ट किये। इनसे मेरी बरसों बाद अभी एक बार मुलाकात हुई है, पर कभी संवाद नहीं हो पाया। परन्तु मेरी स्मृति में या मेरे हृदय में एम.के. रैना निरन्तर उपस्थित हैं। उन्होंने हमसे भास के एक नाटक - 'कर्णधार' की चर्चा के साथ भरत वाक्य को लेकर जिक्र किया। भास ने 'भरत वाक्य' का उपयोग विषय पर उसका स्पष्ट संकेत नहीं दिया। उसी भरत वाक्य में आता है कि-

सर्वत्र सम्पदः सन्तु नश्यन्तु विपदः सदा।
राजा राजगुणोपेतः भूमिमेकः प्रशास्तु नः।।

अर्थात् देश में सम्पदा हो, विपत्तियाँ दूर हों, परन्तु राजा के उचित गुण से युक्त कोई एक ही व्यक्ति शासन करे। 'राजा राज गुणोपेतः भूमिं एकः प्रशास्तु नः'। जब रैना जी ने इसका अर्थ हमसे पूछा, तो हम चकरा गये कि 'एकः राजा प्रशास्तु' का क्या अर्थ है? वर्षों तक इसके ऊपर सोचा, तब कहीं उस इतिहास में कुछ दिखा कि जिस समय भास लिख रहे थे, उस समय जिन्दगी भारत की ठहरी हुई थी। 'कर्णधार' जो उनका नाटक है, उसमें युद्ध होने वाला है। युद्ध की

काल-संवादी होना नाट्य का प्राण है। क्योंकि वर्तमान में नाटककार - शान्ता गाँधी जी, हबीब तनवीर जी, पणिक्कर ये सभी आकर पूछते कि क्या 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' कर रहे हैं, पर इसका कन्टेम्परेरी रिलेवेन्स या सम-सामयिक प्रासंगिकता क्या है?

घोषणा ही हो गयी है। कोई आकर कहता है कि- चलो। शल्य उसका रथ हाँक रहा है। कर्ण एक ही सेन्टेन्स में बोलता है- 'शल्यराज यत्रासौ अजुनः तत्रैव चोद्यताम्ये रथः।' जहाँ वो अर्जुन है, इस रथ को वहीं ले चलो। और उसके बाद सोचने लगता है कि मेरे मन में अवसाद क्यों पैदा हो रहा है, संकोच क्यों पैदा हो रहा है। युद्ध का समय है और मेरा मन तो घबराहट से काँप रहा है। 'इमे हि दैन्येन निमीलिते-क्षणाः' दीनता से आँख बन्द किए हुए, घोड़े नीचे को मुँह करके लौट रहे हैं। ऐसा लगता है कि लड़ाई में हम हार गये हैं। फिर उसको याद आता है कि परशुराम से उसने जब विद्या ग्रहण की थी, तो क्या घटना घटी और कैसे उन्होंने कह दिया था कि समय पर तुम्हारी विद्या काम नहीं आएगी।

इस सब अन्तराल के बाद फिर वह उसी सेन्टेन्स को कहता है कि 'शल्यराज रथ को वहीं ले चलो, जहाँ अर्जुन है।' इस बीच में भिक्षा माँगने इन्द्र आ जाता है। वह उसके कवच-कुण्डल माँग लेता है। ये प्रसंग घट जाता है और उसके बाद फिर वही सेन्टेन्स आता है कि शल्यराज मेरा रथ वहीं ले चलो, जहां अर्जुन है। इसके बाद फिर वह ब्राह्मण का रूप धरकर आता है, विमला शक्ति देता है कर्ण को। तीसरी बार, फिर वही सेन्टेन्स आता है कि शल्यराज मेरे रथ को वहीं ले चलो, जहाँ अर्जुन है।' नाटक समाप्त हो जाता है।

अब अगर हम अन्तर दृष्टि से देखें कि एक वाक्य है। एक वाक्य पर वही का वहीं स्थिर है नाटक। नाटक एक सूत भी आगे नहीं बढ़ा, एक सूती पीछे नहीं हटा और उसके भरत वाक्य में कहा जाता है कि राजा के उचित गुण से युक्त कोई एक राजा शासन करे।

निश्चित है कि उस समय ग्रीक आक्रान्ता थे। कवि को मोनार्की की या एक छत्र शासन की अपेक्षा है क्योंकि गणराज्य असफल हो रहे थे। गणराज्यों के डेढ़ सौ चुने हुए प्रतिनिधि सिकन्दर से बात करने के लिए जाएंगे, क्या फल लेकर आएंगे। भास मोनार्की का स्वागत करना चाहता है और उसके जीवनकाल में संयोग से एक छत्र शासन देश में शुरू हो जाता है, वो उसको देखता है। वो देखता है उस घड़ी को, जिसको विन्सेन्ट स्मिथ ने ह्यूमिलेटिंग पीस कहा। जब सेल्यूकस के साथ संधि होती है चन्द्रगुप्त मौर्य की और उस संधि के अन्तर्गत चार राज्य मिलते हैं। काबुल, कन्धार, बलुचिस्तान और हेरात - ये चार राज्य मिल जाते हैं भारतवर्ष में। सीमाएँ अफगानिस्तान तक पहुंच जाती हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ जो बनी हैं, बड़ी-बड़ी आज हमारे सामने खण्डित दिखाई दे रही हैं - वहाँ तक राज्य पहुंच जाता है। इस स्थिति को यह नाटककार कैसे देख रहा है और किन-किन स्तरों पर उसने इसको देखा- यह प्रत्यक्ष उसके नाटकों में हमें दिखने लगा।

केरल के चाक्यारों की पोथियों में मिले नाटक

यह संयोग की बात है कि अभी हम 2010 में हैं। 1910 में नाटकों का एक बण्डल नाट्यकर्ताओं के घर से महोपाध्याय गणपति शास्त्री को मिला था। उससे पहले भास के नाटक हमारे पास उपलब्ध नहीं थे। सौ वर्ष पहले भी भास का नाम था। नाम से परिचित थे। राजशेखर ने ग्यारहवीं शताब्दी में लिख दिया था कि- भासनाटकचक्रेपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्। स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोभून्न पावकः।। स्वप्नवासवदत्त को आग भी नहीं जला पाई। तो स्वप्नवासवदत्त नाम का कोई एक नाटक है, इतनी सूचना थी, परन्तु नाटक हम नहीं जानते थे। हमारे पास उपलब्ध नहीं था। ये जो चाक्यार लोग हैं, जो कुडियाट्टम करते हैं केरल में, उनकी पोथियों के बण्डल में सारे नाटक 1910 में मिले, परन्तु उसमें नाटककर्ता का नाम नहीं था। संस्कृत के बाद के जो नाटक आए, उनमें नाटककार का नाम लिखा जाता है।

इन नाटकों में कहीं ये लिखा हुआ नहीं है कि भास के द्वारा विरचित। क्योंकि राजशेखर ने यह लिख दिया कि भास के एक नाटक का नाम 'स्वप्नवासवदत्त' है। उसी प्रकार के भरत वाक्य दो-तीन और नाटकों में थे, वो भास के हो गये।

फिर उसकी प्रस्तावना का जो शिल्प है, वो जिन नाटकों में मिला, उनको भास का माना गया। इस तरह से गणपति शास्त्री ने 1912 में तेरह नाटक प्रकाशित किये। आजकल तो विदेशी विश्वविद्यालयों में संस्कृत टीचिंग कुछ कम हुआ है। संस्कृत की जगह हिन्दी ले रही है। खुशी की बात है। संस्कृत तो अपने आप में जीवित रहेगी। उस समय की कोई ओरिएण्टल कॉन्फ्रेन्स ऐसी नहीं है, जिसमें भास के ऊपर कम से कम बीस-पच्चीस, चालीस लेख न लिखे गये हों। उसमें कहीं स्टेन कोनो ने राजसिंह नाम का एक राजा 150 ईस्वी में ढूँढ़ा। उसके समय में भास को जोड़ा। परन्तु उसके भरत वाक्य के अलग-अलग स्तर हैं। उन स्तरों को खोजते उनमें एक शब्द मिला- 'काल-संवादी'। काल-संवादी होना नाट्य का प्राण है। क्योंकि वर्तमान में नाटककार - शान्ता गाँधी जी, हबीब तनवीर जी, पणिक्कर ये सभी आकर पूछते कि क्या 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' कर रहे हैं, पर इसका कन्टेम्परेरी रिलेवेन्स या सम-सामयिक प्रासंगिकता क्या है? इस नाटक को अगर हम आज करेंगे, तो आज के जीवन के लिए इस नाटक से क्या संदेश हमको मिलेगा? इसकी खोज करता है हर नाटक का निर्देशक। तब यह 'काल संवादी', पद महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि भास के नाटकों में हमको 'काल-संवादी' टेक्नीकल टर्म के रूप में मिलता है।

'प्रतिमा' नाटक में जब राम का अभिषेक होने जा रहा है, तो उस समय संगीतशाला में नाट्यशाला की भी बात आती है। वहाँ पर नाटक करने वाले लोग हैं। उनको सूचना भेजी गई है कि आप किसी एक 'काल-संवादी' नाटक को लेकर तैयार रहिए। काल-संवादी अर्थात् अभिषेक होने जा रहा है, तो अभिषेक के वातावरण के अनुरूप होना चाहिए उसको।

नाटक में खुलता काल संवादी का आशय

काल संवादी स्वर अर्थात् नाटकों का जो सामाजिक या समाज के साथ जुड़ी हुई उपयोगिता है या उसकी सार्थकता है- उसको रेखांकित करता था। कालिदास के समय तक आते-आते कालिदास को यह पता नहीं चला कि आखिर यह 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक क्यों लिखा गया? उसका अर्थ क्या था? क्योंकि राजशेखर ने कह दिया स्वप्नवासवदत्त नाटक महान है। हमारे संस्कृत के अध्यापक भी कहने लगे थे कि स्वप्नवासवदत्त तो बड़ा भारी नाटक है। पर सचमुच पूछा जाए, नाटक के समालोचक की दृष्टि से अगर देखें, तो स्वप्नवासवदत्त तो बहुत ही अनगढ़ प्रकार का नाटक है, जिसके अन्दर ढाई अंक तक तो नायक ही स्टेज पर नहीं आया। पहला अंक गया, दूसरा अंक गया, तीसरे अंक के आधे में नायक प्रकट होता है। तो ऐसा कैसा नाटक? क्या यौगन्धरायण जो मंत्री है, वह नायक है? रानी पद्मावती है, जिससे उदयन का विवाह होता है। उसके सिर में दर्द है। यह सूचना सुनकर विदूषक के साथ राजा उसको देखने जा रहा है। रास्ते में विदूषक कहता है- रुको-रुको, साँप है। तो वह कहता है- अरे मूर्ख! यह तो तोरण के ऊपर लटकने वाली माला नीचे गिरी है। ये हिल रही है। तू मूर्ख! इसको साँप समझता है? विदूषक कहता है अच्छा-अच्छा, नहीं है साँप। पद्मावती आकर शायद चली गईं।

यहाँ साँप के साथ पदमावती को जोड़कर हम समझते थे कि पद्मावती को सांपिन बताने के लिये यह पताका स्थानक है। यह संकेत दिया गया है। केरल में संस्कृत के नाटक आज भी होते हैं- उनमें अगर सम्प्रदाय को देखा जाए, तो दर्शक एक तिहाई हिन्दू हैं, एक तिहाई मुस्लिम हैं, एक तिहाई क्रिश्चियन हैं। मैंने उस सम्प्रदाय को देखा है कि वह सब बैठकर उस नाटक को देख रहे हैं। संस्कृत का नाटक हो रहा है। परन्तु उस नाटक में जो विदूषक होता है, वह विदूषक संस्कृत नहीं बोलता, मलयालम बोलता है और मलयालम बोलते हुए वह जितनी सम-सामायिक परिस्थितियाँ हैं उनको उस नाटक के साथ जोड़ता रहता है। यह उसकी विशेषता है। वो एक दिन में एक अंक करते हैं। एक अंक में ही तीन-चार घण्टे लगते हैं।

निश्चित है कि भास के नाटकों की परम्परा नाट्यशास्त्र से पूर्व की है। कालिदास और भास के बीच करीब दो सौ वर्ष का अन्तर है। कालिदास के आते-आते बीच में भरतमुनि आ चुके हैं और नाट्यशास्त्र लिखा जा चुका है।

हमको जब से एम.के. रैना ने चेताया, तो हम समझते थे कि- न खल्वयं काकोदरः, तत्रभवती पद्मावती इहागत्य निर्गता भवेत्। अच्छा-अच्छा, ये साँप नहीं है। पदमावती यहाँ आकर चली गयी। साँप नहीं। नहीं है साँप पदमावती। जरा-सा इशारा इधर होता, तो साँप और पदमावती एक हो जाते हैं। यह हम समझते थे पताका स्थानक है। पर जब उनका अभिनय देखा क्योंकि वह अभिनय उज्जैन में हो रहा था और उनका लड़का हिन्दी जानता था, वह विदूषक का रोल कर रहा था। जब यह प्रकरण आता है तब वह कहता है कि 'मैं तो नहीं जानता। सर्प को देखकर मैं नहीं बता सकता कि सर्प कौन है, सर्पिणी कौन है? पर मेरे मित्र कहते हैं कि ये सर्पिणी हैं। अब यह साँप आया तो श्लोक क्या कहता है? श्लोक कहता है- 'ऋज्वायतां हि मुखतोरणलोलमालां भ्रष्टाम् क्षितौ त्वभवगच्छसि मूर्ख सर्पम्'। कहते हैं- अरे मूर्ख! यह तोरण से टूटकर गिरी हुई माला, जो कि हवा में हिल रही है, तू इसे साँप समझ रहा है। और उस विदूषक को आप देखिए कि वह कितने नये अर्थ लाता है। क्योंकि माला शब्द से सर्प को जोड़कर उसे स्त्रीलिंग बना दिया गया, तो वह सर्पिणी हो गई। उस श्लोक में यह कहा गया- अरे मूर्ख! तू इसको साँप समझता है। तो उसने मूर्ख को साँप के साथ जोड़ दिया। अगर मूर्ख और सर्प में समास कर दीजिए- 'मूर्खश्चासौ सर्पमः मूर्ख-सर्पमः जैसे मूर्ख-पण्डित। तो मूर्ख सर्प हो गया। विदूषक कहता है कि मैं नहीं कह सकता कि कौन सर्प विद्वान है और कौन सर्प मूर्ख है। पर मेरे ही मित्र कहते हैं कि ये सर्प मूर्ख हैं। ये सर्पिणी मूर्ख है। और उसके बाद कहता है कि पद्मावती शायद आकर चली गई।

तब हमारा माथा ठनका पारम्परिक रूप से इस अर्थ पर क्योंकि उनकी पुस्तकों में लिखा हुआ है, किस चीज के अभिनय पर क्या करना। उनके पास लिखा है- कुडियाट्टम में आचार्यों के पास। तब से परम्परा में यह कहा गया। कालिदास ने इस पर अँगुली रखी कि यह गलती है। क्योंकि नाट्य में आप किसी इण्टरल्यूड को प्रयोग करते हैं, तो किसी विशेष परपज से। जैसे आप हल्ला करिए- अरे-अरे-अरे! साँप है, साँप है। तो कुंज के अन्दर अगर अग्निमित्र और मालविका

दोनों हैं, तो हल्ला सुनकर वे सावधान हो गये। तो उसका एक परपज है। कालिदास ने इस पर भी अँगुली रखी। फिर आगे होता है। इस नाटक में, पद्मावती नवविवाहिता है। उसकी अपेक्षा उदयन अपनी पूर्व पत्नी को याद करता है कि वासवदत्ता से उसका प्रेम है।

दो सौ वर्ष के अन्तराल में कालिदास ने देखा कि ये जो नाटककार का निर्णय है, वह सही नहीं है। इसलिए उसने वहाँ भास का नाम लिया 'मालविकाग्निमित्रम्' की प्रस्तावना में- भास सौमिल्ल कवि पुत्र के नाटकों को छोड़कर वर्तमान कवि कालिदास देखिए, वर्तमान कलाकार को हमेशा यह पीड़ा रहती आई है। वर्तमान कवि की पीड़ा कालिदास ने भी भोगी है। वर्तमान कवि 'कालिदास के नाटक को कौन देखेगा? तब पारिपार्श्विक कहता है कि आपने विवेक की बात नहीं की। 'पुराण मित्येव न साधु सर्वम्' - सब कुछ पुराना होने से ही बहुत उत्कृष्ट है, यह जरूरी नहीं है। 'नचापि काव्यम् नवमित्यवद्यम्'। और कोई काव्य कला नई है, इसलिए बहुत अच्छी है, यह बात भी नहीं है। विवेचक लोग परीक्षण करते हैं, परखते हैं। परखकर स्वीकार करते हैं- क्या अच्छा है, क्या बुरा है। जो दूसरों के इशारों पर ही विश्वास कर ले, वह तो मूर्ख होते हैं।

कालिदास यह कहकर 'मालविकाग्निमित्र' नाटक को शुरू करता है और वो दिखाना यह चाहता है कि किसी कनिष्ठ नवयुवती के साथ जब किसी पुरुष की मित्रता या सम्बन्ध होता है, तो वह उसके प्रति अधिक रुचि रखेगा और ज्येष्ठा के प्रति अपनी पूर्व पत्नी के प्रति या पूर्व सम्बन्धों को वह कुछ भुलायेगा। यह स्वाभाविक है पुरुष जाति के लिए। भास ने इसका उल्टा किया कि पदमावती की तरफ उसका ध्यान नहीं है। वासवदत्ता को याद कर रहा है। तब उसने पहले धारिणी और फिर इरावती का स्मरण किया। धारिणी ज्येष्ठा है- इरावती के हाथों पहले धारिणी को हरवाया, फिर मालविका के हाथों इरावती और धारिणी दोनों को हरवाया और जनता को बताया कि आप बताइये कि क्या सच है और क्या गलत है। पद्मावती से विवाह होने से उदयन को राज्य मिला, तो मालविका को भी इसी प्रकार से राजा की पुत्री बताया और राज्य भी बढ़ गया। उन दोनों के मिलने का स्थान समुद्र महल था। यहाँ पर भी समुद्रमहल उसने रखा। इस तरह कालिदास ने स्वप्नवासवदत्ता से नाटक के रूप में मालविकाग्निमित्र को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया।

कालिदास और भास के नाटकों में मृत्यु नाट्यशास्त्र के विरुद्ध!

तब यह सोचने की बात आती है कि भास ने 'स्वप्न वासवदत्ता' क्यों लिखा? उनके नाटकों के जो अलग-अलग स्तर हैं, उन स्तरों को जब हम देखते हैं, तो उसमें आपको एक दुखान्त नाटक भी मिल जाता है 'ऊरुभंग'। भारतीय नाट्य में सुखान्त नाटक होता था। हमारे यहाँ तो दुखान्त कोई नाटक है ही नहीं। 'ऊरुभंग' में दुर्योधन स्टेज पर मारा जाता है। सम्पूर्ण महाभारत की कथा में दुर्योधन का कोई पुत्र नहीं है फिर भी भास ने दुर्योधन का एक पुत्र पैदा कर दिया। उसका नाम दुर्जय रख दिया। हमारे गुजरात के एक बड़े साहित्यकार नेकभी कहा कि असली नाम तो सुयोधन था, विरोधी पत्रकारों ने दुर्योधन कर दिया। हम तब तो चुप रहे। कुछ वर्षों बाद बड़ोदा में हमने कहा- नहीं महाराज! नाम तो दुर्योधन था, विरोधियों ने उसको सुयोधन कर दिया। दुर्योधन का अर्थ है, जिसके साथ युद्ध दूभर हो। दुर्योधन या दुर्जय, दोनों का एक ही अर्थ है। सुयोधन अर्थात् जिसको तो जरा से ही इसमें हरा दिया जाएगा। तो यहाँ दुर्योधन है, उसके ऊपर आघात होता है और वह रंगमंच पर प्राण त्यागता है। दशरथ रंगमंच पर प्राण त्यागते हैं। बालि रंगमंच पर प्राण त्यागता है। कालिदास और भास के नाटकों में पाँच-छः मृत्यु स्टेज पर दिखायी जाती हैं- जो कि नाट्यशास्त्र के विरुद्ध है।

वो क्यों ऐसा दिखा रहा है? निश्चित है कि भास के नाटकों की परम्परा नाट्यशास्त्र से पूर्व की है। कालिदास और भास के बीच करीब दो सौ वर्ष का अन्तर है। कालिदास के आते-आते बीच में भरतमुनि आ चुके हैं और नाट्यशास्त्र लिखा जा चुका है। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्र कहता है- 'पितामह महेश्वरौ' - मैं पितामह अर्थात् ब्रह्मा और महेश्वर शिव इनको प्रणाम कर नाट्यशास्त्र की रचना करता हूँ। कालिदास ने भी जब नाटक के बारे में कहा, तो यही कहा कि- 'देवानम् इदमानन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषम्' - मुनि मानते हैं कि देवताओं का ये का सुन्दर कमनीय यज्ञ है, चाक्षुष यज्ञ है- आँख से देखे जाने वाला यज्ञ है। इसको हम 'नाटक' कहते हैं। 'रुद्रेणेदमुमाकृत व्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा' - रुद्र ने शंकर ने अपने ही अंग में इस नाट्य को दो हिस्सों में बाँट लिया और 'त्रैगुण्योद्भव लोक-चरितम्' - लोक चरित्र के तीनों गुण जो हैं सत्व, रज, तम तीनों गुणों का प्रत्यक्षीकरण नाटकों में होता है। दसवीं शताब्दी में नाट्य के ऊपर भरत के नाट्यशास्त्र के बाद दूसरा 'दश रूपक' लक्षण ग्रन्थ लिखता है। वह भी यही कहता है कि ब्रह्मा ने इसकी रचना की है और रुद्र ने इसमें ताण्डव दिया, रुद्राणी-पार्वती ने

इसमें लास्य दिया और इस प्रकार से नाट्यशास्त्र की रचना हुई। परन्तु भास न ब्रह्मा की बात करते हैं और न रुद्र की बात करते हैं उनके आराध्य नारायण हैं - 'नारायणस्त्रिभुवनैकपरायणो वः पायादुपायशतयुक्तिकरः सुराणाम्। लोक त्रयाविरत नाटक तंत्र वस्तु प्रस्ताव न प्रतिसमापन सूत्रधारः।।' यह दूतघटोत्कच के मंगलाचरण का श्लोक है। 'नारायण वह नारायण, संसार में निरन्तर जो नाटक घट रहा है- उस नाटक को तैयार करने की प्रस्तावना और प्रति समापन का सूत्रधार है। भास की दृष्टि नारायण से नाटक को जोड़ती है। तो यह दिखता है कि एक दूसरी अलग धारा है, जो कि उससे पूर्व की है। उसके साथ-साथ भास काल संवादी स्वर की बात करते हैं। जो परिवर्तन देश में हुआ, जैसे सबसे पहले नाटक में लगता है, भरतवाक्य कहता है भगवान ही मालिक है। और दूसरा नाटक आता है, उसके अन्दर कहीं भरत वाक्य नहीं है। परन्तु अन्तिम श्लोक घटोत्कछ कहता है, तो लगता है जैसे- पौरस के साथ सिकन्दर का संवाद इतिहासकार बताते हैं। सिकन्दर ने पौरस से संधि की बात की थी और पौरस ने उसको यह कहा था कि मैं तुमको युद्ध के मैदान पर मिलूँगा।

घटोत्कछ अन्तिम श्लोक कहता है- 'धर्मम् समाचार' - जो नैतिक है, उस काम को कर। 'कुरु स्वजनव्यपेक्षाम्' - तुम्हारे ही लोग जो कुछ कहते हैं, उसका विरोध करना हो तो करो। अर्थात् कहीं न कहीं पौरस को यह सूचना थी कि सिकन्दर के सिपाही आगे लड़ना नहीं चाहते हैं। वे लौटना चाहते हैं। मेक्क्रिण्डल वगैरह और अन्य जो इतिहासकार हैं, उनके ग्रन्थों से वह प्रमाणित होती है।

इतिहास की परतों को देखें, तो कहीं कोई ऐसा ब्राह्मण वहाँ दिखाई पड़ता है, जिसको हम कभी चाणक्य कह देते हैं, जिसको कभी हम विष्णु गुप्त कह देते हैं, जिसने एक लड़के को अपने पीछे-पीछे लगा रखा था और कह रखा था कि तू राजा है। 'बिना अभिषेकम्' - बिना अभिषेक के राजा। जब वह राजा बन गया, तो राजा बन गया है। राम का अभिषेक होता है, भरत आता है, लक्ष्मण आता है और बार-बार ये कहता है कि कल्मष या कालिख हमारा वंश आज कर्म से मुक्त हो गया जैसे चन्द्रमा के उदय पर प्रकाश होता है। पुष्पक विमान आया है। यहाँ पर सारे लोग बैठते हैं। राम कहते हैं- 'अद्यैव यास्यामि पुरीम् अयोध्याम्' आज ही मैं अयोध्या जाऊँगा। अपने साथ सारे लोगों को लेकर। अगला संवाद लक्ष्मण कहता है- 'अद्यैव पश्यन्तु च नागरास्त्वाम्'- सारे नागरिक आज ही तुमको देखें। 'चन्द्रम्म्सनक्षत्रमिवोदयस्थम्' जैसे उगता हुआ नक्षत्रों सहित चन्द्र। यहाँ तक तो चन्द्रमा की बात रही। प्रतिज्ञा यौगन्धरायण नाटक कौटिल्य को या चाणक्य को रुपायित करने के लिए शायद लिखा हो। क्योंकि यौगन्धरायण जो है, वह चाणक्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है नाटक में। वहाँ पर जो उसने श्लोक दिया है- 'नवम् शरावम्'। वह अर्थशास्त्र में कोट हुआ। हमारे पास जो अर्थशास्त्र है कौटिल्य का उसका तीसरे अधिकरण में- 'अपीह श्लोकौ भवतः - नवम् शरावम सलिलैः सुपूर्णम् इत्यादि श्लोक को चाणक्य ने कोट किया और यह श्लोक प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में मिला है।

तो दोनों का कोई न कोई सम्पर्क मालूम पड़ता है। उसी श्लोक के बाद यौगन्धरायण आ रहा है। यौगन्धरायण का वर्णन किया जा रहा है। उसको पगड़ी बंधी हुई है। उसके हाथ में तलवार है, ढाल है और वह उस बादल की तरह दिख रहा है, जिसके पीछे चन्द्र झाँक रहा है। चन्द्र तो चाणक्य के पीछे से ही झाँकता हुआ दिखाई देता था। इसलिए इनमें कुछ संवादी स्वर बनते हैं।

305 ईसापूर्व में सेल्यूकस के साथ जो संधि होती है, जिसमें पाँच राज्य मिलते हैं और हेलेन राजा के साथ रानी बनकर बैठती है। 'मेट्रीमोनियल, इट वाज सिमेटिंग मेट्रीमोनियल अरेन्जमेन्ट'। ये तो

ग्यारहवीं शताब्दी में जब राजशेखर लिखता है कि भास के नाटकों को आग भी नहीं जला पाई, तो प्रश्न यह होता है कि कौन-सी आग? जिस आग से हम आज परिचित हैं, उस अग्नि में तो आप कोई भी कागज डालिए, जल जायेगा, निश्चित है। शायद यह आग चाणक्य था।

राय चौधरी लिखते हैं और विन्सेण्ट स्मिथ इसको 'ह्यूमिलियेटिंग पीस' कहता है। वहाँ पर हेलेन जो रानी बनकर बैठती हैं, भास उसको नहीं सह पाता। स्वप्न-वासवदत्ता नाटक उसने रातों रात तैयार किया। और जब ये राज्य मिले, तब पंचरात्र लिखा। पंचरात्र में दुर्योधन आधा राज्य दे देता है। महाभारत की कथा के अन्दर कोई आदमी विश्वास करेगा कि इसने आधा राज्य दे दिया। अगर आधा राज्य दे दिया, तो महाभारत का युद्ध ही क्यों हुआ? भास के रंगमंच में जो देखने वाले थे, वे देख रहे थे कि ये दुर्योधन नहीं सेल्यूकस है। क्योंकि काल संवादी नाटक है। वह तत्काल के इतिहास को जोड़ रहा है। उसके बाद जब वो हेलन जिसके कारण राज्य बढ़ा बैठ जाती है सिंहासन पर, तो पद्मावती के बारे में कहा जाता है, इससे जो विवाह करेगा वह चक्रवर्ती राजा हो जाएगा। उससे विवाह कराता है। यौगन्धरायण। परन्तु उदयन याद करता है वासवदत्ता को, और इसी स्थति के कारण यह नाटक सम्भवतः 300 बी.सी. पर या 299 बी.सी. पर रचा गया है।

इसके अन्दर एक चाबी और हमें दिखाई दी है, वह यह है कि किसी भी नाटक के मंगलाचरण में 'ते' शब्द का प्रयोग नहीं होता। संस्कृत में 'वः' शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् आप सब लोग। आप संस्कृत साहित्य या किसी भी नाटक के मंगलाचरण को देखिए उसमें यही कहा गया है कि भगवान आप सबका कल्याण करें। तेरा कल्याण करें यह नहीं लिखा जाता। 'तेरा' मतलब एक वचन है, परन्तु भास ने दो नाटकों में 'वः' की जगह 'ते' का प्रयोग किया है। दो नाटकों में एक 'अविमारक' में राजकुमार है, उसको शाप लगा हुआ है और वह छिपकर चाण्डाल के रूप में रहता है कुछ समय तक। सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के ऊपर यह भी जाति का विवाद रहा है- ये सब चीजें शायद ऐतिरहासिक रही हों, परन्तु बाद में वह राजकुमार सिद्ध होता है। वहाँ पर मंगलाचरण का श्लोक है। उसमें कहा है- 'श्रीमान् नारायणस्ते प्रदिशतु वसुधाम् उच्छितैकातपत्राम्' 'एकातपत्र' अर्थात् एक छत्र राज्य नारायण तुझे दें। चूँकि नारायण एक छत्र राज्य पब्लिक को नहीं बाँट सकते हैं। 'वः' को नहीं बाँट सकते। मोनार्की में एक छत्र राज्य सत्ता सारी पब्लिक को नहीं बाँटा जा सकता। परन्तु स्वप्नवासवदत्ता का जो मंगलाचरण है किसी का ध्यान उस पर नहीं गया। यहाँ पर 'त्वाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है- तुमको। अर्थात् भास ने कोशिश की है किसी तरह से यह नाटक केवल चन्द्रगुप्त मौर्य को दिखाया जाए और चाणक्य को अनदेखा किया। शायद उसमें सफल हुआ वह। उसने नाटक दिखाया उसको और उस नाटक को देखने का हश्र यह हुआ कि चन्द्रगुप्त ने राज्य छोड़ दिया। 299 या 300 बी.सी. पर लिखा गया यह नाटक। 298 बी.सी. पर बिन्दुसार का सक्सेशन होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य एबडीकेट करता है और चला जाता है चन्द्रगिरि। चन्द्रगिरी, जो कि जैन तीर्थ है आज भास इतिहास इसमें स्पष्ट झलक रहा है।

ग्यारहवीं शताब्दी में जब राजशेखर लिखता है कि भास के नाटकों को आग भी नहीं चला पाई, तो प्रश्न यह होता है कि कौन-सी आग? जिस आग से हम आज परिचित हैं, उस अग्नि में तो आप कोई भी कागज डालिए, जल जायेगा, निश्चित है। शायद यह आग चाणक्य था। नाटक, नौटंकी करने वाले लोगों का राजनीति में दखल पसंद नहीं था। यह आज भी प्रासंगिक है और ये तब भी प्रासंगिक था। तब उन्होंने कहा कि - 'च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् स्वप्नवासवदत्तस्य दाहको भून्त्र पावकः'। वह पावक, वह आग चाणक्य था, वह भी उसको नहीं जला पाया। स्वप्नवासवदत्त बच गया। शायद यही अर्थ होगा। कुछ समय खोया रहा, फिर 1910 में मिल गया।

भोपाल में रंगमंच

...और कारवाँ बढ़ता गया

अलीम बज़्मी

भोपाल में थियेटर का इतिहास नवाबी काल से जुड़ा है। तब के थियेटर में आज की तरह आधुनिक संसाधनों का इस्तेमाल नहीं होता था। उस समय संगीत के साथ नृत्य प्रस्तुति अधिक रहती थी। इस दौर में नौटंकी को भी काफी लोकप्रियता मिली। नवाब हमीदुल्ला खाँ थियेटर से लेकर नौटंकी, कठपुतली शो आदि को खूब पसंद करते थे।

नवाब भोपाल जब भी शिकार पर जाते तो नाट्य मंडली मय साजो सामान उनके रहती थी। शिकार से जब नवाब साहब का मन भर जाता तो नाट्यमंडली मोर्चा संभालती। माहौल को गुदगुदाती। इसमें कुछ ऐसे कलाकार भी होते थे, जो पैरोडी और मिमिक्री के ज़रिए माहौल को खुशनुमा बनाते। इनमें खासतौर पर मियां चिरकीन और मुंशी हुसैन खाँ के हुनर को खूब सराहा जाता।

विलीनीकरण आंदोलन के समय थियेटर को जिंदा रखने का काम मास्टर सुलेमान आरजू और वकील रामचरण राय की टोलियों ने किया। इनके अभ्यास का केन्द्र मिंटो हाल (पुराना हमीदिया कॉलेज और बाद में पुरानी विधानसभा) का गलियारा व बगीचा होता था। भोपाल टॉकीज के नजदीक स्थित बाल विहार भी लंबे समय तक रंगकर्मियों के अभ्यास का केन्द्र रहा। तब दर्शक जुटाने के लिए कलाकारों को काफी मशक्कत करना पड़ती और नाटक का खर्च भी ये लोग आपस में मिल-जुलकर ही उठाते थे। ये सिलसिला वैसे आज भी जारी है। विलीनीकरण आंदोलन के दौर में भोपाल में लोगों की दिलचस्पी नाटक के बजाय नौटंकी में अधिक रहना बताया जाता है। मुख्यतः नौटंकी का आयोजन सेंट्रल लाइब्रेरी मैदान में प्रदर्शनियों के दौरान होता था। लेकिन सुलेमान आरजू और वकील रामचरण राय ने नाट्य साधना को लेकर कभी हिम्मत नहीं हारी।

मध्यप्रदेश गठन के समय ऐलोकेटेड कर्मचारी के रूप में जब महाराष्ट्र से काफी लोग भोपाल आए तो रंगमंच को एक नई दिशा मिली। मराठी समाज के लोग गणेश पूजा के आयोजनों के दौरान नाटकों का मंचन करते थे, तब ये गतिविधियां साउथ एवं नार्थ टीटी नगर में अधिक होती। वर्ष 1960 में भोपाल में भारत सरकार के गीत एवं नाट्य प्रभाग का दफ्तर खुलने से नाट्य गतिविधियों में इजाफा हुआ। तब लालपरेड मैदान में नाटकों का मंचन होता था। इसमें काफी भीड़ जमा होती थी। इसका मुख्य कारण गीत, ध्वनि, प्रकाश संयोजन होता था। तब से भोपाल में आधुनिक नाटकों की शुरुआत हुई। इसी दौर में पारसी थियेटर का काफी बोलबाला था। रवींद्र भवन बनने पर नाट्य गतिविधियों का केन्द्र यहां का मुक्ताकाश मंच और बगीचा बना। भोपाल में भेल कारखाना कायम होने पर बीएचईएल के कारण बंगाली थियेटर की गतिविधियां शुरू हुईं लेकिन लंबे समय तक सक्रिय नहीं रह सकी।

अदरक के पंजे

रवींद्र भवन में 'अदरक के पंजे' नाटक के मंचन के दौरान पर्दानशी महिलाओं की भीड़ भी नजर आई। ऐसी भीड़ बाद में रशीद अंजुम, जफर बासित और इकबाल मजीद के नाटकों में देखने को मिली। इन निर्देशकों के प्रयास से रवींद्र भवन में बुर्कापोश महिलाएं नाटक देखने आने लगीं। अस्सी के दशक में भोपाल को भारत भवन की सौगात मिलने और रंगमंडल के खुलने से नाट्य जगत को नया मुकाम मिला। अब मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान की निजी रुचि से राज्य सरकार भोपाल में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा की तर्ज़ पर थियेटर का स्कूल खोलने जा रही है। उम्मीद है कि इसके खुलने से रंगमंच को नई मंजिलें मिलेंगी। भोपाल के कलासाधकों की मुराद पूरी होगी। इसके लिए मुख्यमंत्री एवं संस्कृति मंत्री के प्रयासों का धन्यवाद।

मध्यप्रदेश कला परिषद् के गठन से नाट्य संसार में कई रंग नजर आने लगे। भोपाल में रंगमंचीय शिविरों का आयोजन होने लगा और नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के दिग्गज शहर में नजर आने लगे। इसी कालखंड में दादा यदुराज सिंह, भाऊ खिड़वड़कर और रईस हसन, दादा विजय डिंडोरकर की मेहनत से भोपाल में कलाकारों की नई पौध तैयार होने लगी। मालूम हो कि दादा विजय डिंडोरकर की पहचान एक परिपक्व कलाकार के रूप में भी है। रंगशिविर के बैनु गांगुली के आमंत्रण पर वर्ष 1974 में ब.व. कारंत की अगुवाई में पहला नाट्य शिविर म.प्र. लोक कला परिषद् में आयोजित होने से मानो भोपाल में रंगमंच को पंख ही लग गए। उन्हीं के निमंत्रण पर बंसी कौल और एमके रैना जैसे ख्यातनाम निर्देशक भोपाल आए।

नाट्य लेखकों में फजल ताबिश, रशीद अंजुम, राजेश जोशी, मणिमधुरकर, इकबाल मजीद, सतीश मेहता तथा आशी मनोहर की नई फौज उभरकर आई। इनके लिखे नाटकों को काफी सराहा गया। वहीं 90 के दशक में प्रशांत खिरवड़कर, अशोक बुलानी, सतीश मेहता, जयंत देशमुख, विभा मिश्रा, केजी त्रिवेदी, संजय मेहता, नज़ीर कुरेशी, मनोज नायर जैसे नए निर्देशकों ने कमान संभाली। बीसवीं सदी में नया थियेटर पूर्ण रूप से भोपाल में शिफ्ट हो गया। दूसरी तरफ लिटिल बैले ट्रूप की गतिविधियों ने देश-दुनिया के नक्शे में भोपाल का नाम दर्ज कराने में अहम भूमिका निभाई तो ये गर्व की बात है कि भोपाल में आलोक चटर्जी जैसी शख्सियत भी है, जिन्हें एनएसडी से गोल्ड मैडल मिला है।

नुक्कड़ नाटक

60 के दशक में आईएएस शशांक मुखर्जी और उनकी पत्नी प्रज्ञा मुखर्जी ने जरूर कला साधकों की जमात तैयार करके थियेटर को आगे बढ़ाने का काम किया। 1970 के दशक में इस पताका को दादा यदुराज सिंह, भाऊ खिरवड़कर और रईस हसन जैसे नाटकों को समर्पित निर्देशकों से अलग-अलग रूपों में थामा। दादा यदुराज सिंह एवं भाऊ खिरवड़कर ने भोपाल में नुक्कड़ नाटकों की शुरुआत कराई।

ग्वालियर से प्रभात गांगुली एवं गुलवर्धन दीदी लिटिल बैले ट्रूप को लेकर भोपाल आ गए। बंसी कौल ने रंगविदूषक संस्था कायम की तो रईस हसन और प्रेम गुप्ता का मंच, जावेद जैदी की संभावना, अलखनंदन की नट बुंदेले, इरफान सौरभ की पल्लव और प्रशांत खिरवड़कर की रंगायन, राजीव वर्मा के भोपाल थियेटर ने भी यहाँ अपना जलवा दिखाया।

बीहड़ में बेहतर की तलाश बाकी है

संवाद भोपाल के रंगकर्मियों से ● वसंत सकरगाए

भोपाल की रंगमंचीय गतिविधियों का सिरमौर है- नाटक। छोटे-बड़े करीब पचास नाट्य समूह यहाँ सक्रिय हैं और महीने की पन्द्रह शामें नाटकों से गुलज़ार रहती हैं। इस शहर का अपना सुनहरा रंग-अतीत है जिसे विरासत की तरह नए रंगकर्मियों ने पाया है। लेकिन इस सघन रंगबस्ती ने प्रतिभा, पुरुषार्थ और परिश्रम की जिस पूंजी पर देश और दुनिया के सामने मिसालें गढ़ीं आज ज़िद और जद्दोजहद के वो निशां काफूर हो गए से लगते हैं। पलक झपकते सब कुछ पा लेने की फितरत के चलते धीरज की जमीन पर कभी परवान चढ़ी रंग साधना गैरजरूरी लगने लगी है। जुझारू तथा प्रतिबद्ध रंगकर्मियों की निष्ठा के साक्ष्य अब सिमट गए हैं। गतिविधियों की गहमा-गहमी तो बढ़ी है लेकिन गुणवत्ता प्रायः हाशिए पर। कभी इस गुणवत्ता को गढ़ने वाली कुछ शख्सियतें अब जिंदगी से रुखसत कर गईं। लेकिन जो हमारे बीच हैं, उनसे नई बिरादरी का सृजन-संवाद नहीं है। भारत भवन का रंगमंडल भी जमींदोज़ हो गया। प्रबंध की जोड़-तोड़ में माहिर कुछ रंगकर्मियों ने उत्सवों की श्रृंखला का सिलसिला शुरु कर रंगमंच को सन्नाटे से तो बचा लिया लेकिन 'बेहतर' की तलाश का सवाल वहाँ भी मुँह बाएँ खड़ा है। कार्यशालाओं में अनुदान अर्जन होता रहा लेकिन सृजन की दूर तक फैलती संभावना की रौशनी नदारद है। ..इन तमाम चिंताओं को बटोरती बातचीत 'रंग संवाद' में हम साझा कर रहे हैं। यह इस आशय के साथ प्रस्तुत है कि अगले अंक में हम आपकी प्रतिक्रियाओं से इस संवाद का विस्तार कर सकें। हो सकता है, बहुत से मुद्दे छूट गए हों या नागवार लगें। आपके विचारों का इंतजार रहेगा...।

- *विनय उपाध्याय*

अब वैसी दीवानगी कहाँ?

यदुराज सिंह, *नाट्य निर्देशक*

पचास साल पुराने और आज के भोपाल के रंगमंच में अर्श से फर्श जितना फासला है। तब फर्श में कृत्रिम चमक नहीं थी और न अर्श इतना प्रदीप्त। संघर्षपूर्ण आग्रहों से फर्श चमकता था तो जीवंत अभिनय की प्राणवत्ता को मिलने वाली लालियों से अर्श दमक उठता था। तब नाटक धंधा नहीं, शौक था। 100-150 नाटकों का निर्देशन मैंने किया लेकिन लगता था नाटक वाकई त्याग और साधना की वस्तु है। कहने का अर्थ यह नहीं कि आज रंगमंच के प्रति त्याग की भावना बिल्कुल सिमट गई है लेकिन रंगकर्मियों का बर्ताव वैसा भी नहीं रहा जैसा सचमुच होना चाहिए। शार्टकट और धनोपार्जन की होड़ ने रंगमंच के व्याकरण को बदल कर रख दिया है।

मेरी मान्यता है कि प्रोफेशनलिज्म से ही हिन्दी नाटक की दिशा दशा सुधर सकती है किन्तु इसके लिए सार्थक और विश्वसनीय राहें तलाशनी होंगी। वैसे ही जैसे तरुण घोष, पुरुषोत्तम दारवेकर जैसे नाट्य मनीषियों ने किया था। आज भोपाल बल्कि समूचे हिन्दी रंगमंच को चाहिए कि नाट्यप्रेमियों के बीच सदस्यता अभियान चलाए। उनसे यथाशक्ति सदस्यता शुल्क लिया जाए और इस शुल्क से इतनी उम्दा नाट्य प्रस्तुतियाँ की जाएं कि रंगमंच के जीवंत स्रोत के प्रति लोगों में अपनत्व का वातावरण निर्मित हो। मुझे अच्छी तरह याद है उन दिनों मैं जलाल आगा और भगवान देशपांडे के साथ बम्बई में फिल्म और थिएटर में संघर्षरत था तब पृथ्वीराज कपूर अपने नाटकों को लेकर देशभर में घूमते थे। आज के रंगकर्मी जाने क्यों इस बात से परहेज करते हैं? पृथ्वीराज का यह सच्चा प्रोफेशनलिज्म था जिससे कई लोगों के पेट पलते थे। आज की तरह उन्होंने विज्ञापन और प्रायोजक बटोरने में कभी विश्वास नहीं किया। कुछ मिला तो ठीक वरना टिकिट के बूते पर वे प्रोडक्शन की कास्ट निकालते थे। इसी भोपाल में शंकर शेष के त्रिपात्रीय नाटक के लगातार इक्कीस शो का सफल अनुभव मुझे है। उन कारणों को खोजने और उन पर विमर्श की आज बहुत जरूरत है कि तमाम सुविधाओं के बावजूद दर्शक आधे नाटक में मुँह बिचकाकर जाने क्यों उठकर प्रेक्षाग्रह से रुखसत हो जाता है। एक वजह मेरी समझ से यह है कि आज भोपाल के रंगमंच पर रामरतन सेन, हरीश त्रिवेदी, पापियादास गुप्ता जैसे सक्षम अभिनेता का अभाव है जो दर्शकों को बाँधने का माद्दा रखते हों। आज नाटक तादाद में खूब हो रहे हैं पर दीवानगी की खूबियाँ कहीं नहीं हैं। जल्दबाजी में नाटकों की तैयारी से गुणवत्ता में कमी आई और दर्शकों के दृष्टिकोण के मुताबिक भोपाल का रंगमंच खड़ा नहीं रह पाया। रंगमंच में सुधार एक क्या दस भारत भवन बनाने से नहीं होगा। और जहां भारत भवन जैसी संस्थाएं नहीं हैं क्या वहाँ बेहतर नाटक नहीं होते। सबसे बड़ा फेक्टर हमारी इच्छाशक्ति है। हमें अपना आचरण और प्रवृत्तियाँ बदलनी ही होंगी। नाट्य प्रस्तुति के दौरान प्राप्त तालियों से फूलकर कुप्पा होने के बजाए होना यह चाहिए कि उन व्याकरणात्मक खामियों पर विचार हो जो आमतौर पर सामान्य दर्शक समझ नहीं पाता। प्रबुद्ध दर्शक वर्ग से बाकायदा रायशुमारी होना चाहिए। नाट्यगृह की चिंता के बजाए नाट्य आलेख के वातावरण की फिक्र ही नाटक का उद्धार कर सकती है।

झोला छाप रंगकर्मियों से नुकसान

अलखनंदन, *नाट्य लेखक, निर्देशक*

कुछ लोग किसी की सफल सृजनात्मकता, उसके काम की प्रक्रिया को समझे बिना सतही तौर पर समझ लेते हैं इसलिए उनके पास सफलता की आंतरिक शक्ति नहीं होती है। आज नवोदित और कहीं-कहीं कुछ अनुभवी रंगकर्मियों के साथ यह एक बड़ी दिक्कत है। किसी नाटक का विचार और कथ्य जब मुझे झकझोरता है तब ही मैं उसे अपनी रंगभाषा में गढ़ने का संघर्ष कता हूँ।

मेरा मानना है कि यदि कोई प्रस्तुति कथाकथित रूप से सफल नहीं हो पाई तब भी हमें उस प्रक्रिया में कला के कुछ ऐसे अनुभवों की प्राप्ति होती है जो हमें सम्पन्न करती है। आजमाइश का खेल जो आगामी नाटकों की सफलता में महती भूमिका निभाता है। दरअसल हमें सृजनात्मक संघर्ष के लिए बढ़ना चाहिए। आज इस संघर्ष का अभाव देखता हूँ तो रंगमंच के प्रति काफी चिंतित होता हूँ।

नाटक निश्चित ही एक कला है। लेकिन नाटक और विज्ञान की प्रकृति समान होती है। दोनों में तथ्यों को उधेड़कर देखने की प्रवृत्ति होती है। एक ही दिशा में दोनों बढ़ते हैं। दोनों के पास सफलता व पैमाने की गारंटी नहीं होती। इसके लिए ज्ञान संवेदना जरूरी है। जिसे मुक्तिबोध ने ज्ञानात्मक संवेदना कहा है। इस बदलती दुनिया में सतर्क संवेदनशीलता जरूरी है। दुःखद यह है कि शॉर्टकट के चलते विभिन्न तकनीक का इस्तेमाल और सिनेमा-टीवी की भाषा को रंगमंच की सफलता की कसौटी माना जा रहा है जबकि रंगमंच की अपनी सुदृढ़ भाषा है जो किसी की मोहताज नहीं है। ईमानदार व सादगीपूर्ण संवाद में ही रंगमंच की सार्थकता है।

देखा जाए तो आज तड़प के साथ रंगमंच नहीं हो रहा है। जबकि कार्पोरेट और सरकारें इसे संप्रेषणीयता का सशक्त माध्यम मान रहे हैं। कुछ ऐसे लोग जिनके पास इतिहास को देखने की दृष्टि, महान चरित्र को समझने की कुव्वत नहीं है वे सरकार और कार्पोरेट जगत की शर्तों की हाँ-में-हाँ मिलाकर रंगमंच के बड़े-बड़े जलसे कर रहे हैं। लेकिन अच्छी नीयत को अच्छी नियति नहीं मिल पा रही है।

यह कहना सरासर गलत है कि हिन्दी में नाटकों की कमी है। असल में लोग पढ़ते ही नहीं। एक तरह से अहसास होता है कि टीवी जैसे गैर कला माध्यम का ख्वाब पूरा करने की गरज ऐसे लोगों को रंगमंच की ओर लाती है जो जानते हैं कि वे रंगमंच नहीं कर सकते एक घटिया खिचड़ी पकाते हैं। फिर हिन्दी मुहावरे, हिन्दी की भाव भंगिमाएं हिन्दी रंगमंच पर ही संभव है। आज बड़ी जरूरत है अपने समय को व्यक्त करने वाले नाटकों को समझने की दृष्टि विकसित करने की। पाठ और उसकी प्रकृति के अंतर्संबंधों को समझने का सार्थक व सशक्त माध्यम है रंगमच। चूंकि रंगमंच के मूलभूत संस्कारों का ज्ञान नहीं है इसलिए कई दफे हमारे आसपास के महत्वपूर्ण पक्षों को हम नजरंदाज कर देते हैं। जिस तरह कुछ झोला छाप डाक्टरों ने ज्ञानपरक चिकित्सकीय पेशे को नुकसान पहुंचाया है उसी तरह कुछ झोला छाप रंगकर्मी संवेदनशील रंगमंच को संवेदना रहित करने पर उतारू हैं।

सार्थक संवाद की कमी

विजय दिडोंरकर, *हिन्दी-मराठी अभिनेता*

रंगमंच 'ग्लैमर स्टेज' नहीं है। यह पूजा स्थली है जहाँ सिर्फ नाट्य प्रस्तुति के दौरान यदि नाटक की माँग है तब ही जूते-चप्पल पहनकर जाने की परम्परा रही है लेकिन आज इस पूजास्थान की पवित्रता उसके प्रति श्रद्धा और सम्मान के तय मानक लगभग ध्वस्त किए जा रहे हैं। दरअसल मंच के प्रति सम्मान और निच्छल आस्थाएं ही नाटक के मानकों को बुलंदियाँ प्रदान करते है। चूँकि मानकों को थोथा करार दिया गया है लिहाजा बुलंदियाँ भी समाप्तप्रायः हो रही हैं। 1971 के आसपास डॉ. शंकर शेष की नाट्य संस्था 'नाट्य सुधा' के निर्देशकीय दायित्व संभालने से पूर्व भाऊ खिरवड़कर एस बी बेलनकर और बाद में ब.व. कारंत के निर्देशन में नाटकों की तैयारी के दौर ने हिन्दी नाटकों के प्रति मुझे उदार व चैतन्य बनाया है। उस दौर में नाट्य चरित्रों को लेकर गहरा विचार विमर्श निर्देशक अभिनेता के बीच बहुत जरूरी था। फिर संवाद अदायगी और देहगतियों पर लम्बा रियाज और तगड़ा होमवर्क। इतनी बारीकियों और चुनौतीपूर्ण संघर्ष के बाद तब कहीं जाकर एक सक्षम नाटक दर्शकों के समक्ष आ पाता था। कहना होगा कि पहले के रंगकर्मी दर्शकों के प्रति ज्यादा चिंतावान होते थे। आज अलखनंदन, नजीर कुरैशी, गोपाल दुबे जैसे कुछेक निर्देशक ही ऐसे हैं जो नाटक की दिशा विशेष को लेकर गंभीर और सामान्य दर्शकों के प्रति उत्तरदायी नजर आते हैं। आज के अधिकांश नाटकों में पोचेपन की एक बड़ी वजह यह भी है कि नाट्य आलेख की खामियों को अपने तईं ठीक करने के बजाए जस-का-तस पेश करने का व्यक्तिगत और निर्देशक की ओर से आग्रह ज्यादा रहता है। उससे अभिनय ही नहीं नाटक की दृश्य रचनाएं और रवानगी को खासा नुकसान होता है। डायरेक्टर की डिटेक्टर भी एक्टर को दब्बू और उसका मशीनीकरण कर देती है। चूंकि अभिनेता भयग्रस्त रहता है इसलिए ज्यादातर चरित्र की मूल चेतना को मुखर नहीं कर पाता है। जरूरी है निर्देशक अभिनेता के बीच सार्थक संवाद।

इधर चूंकि नाट्य दर्शकों रुचियों में टीवी और फिल्मों के बढ़ते हस्तक्षेप से बदलाव आया है इसलिए अभिनेता की जिम्मेदारी इस मायने में ज्यादा बढ़ गई है कि वो चरित्र को न सिर्फ न्याय की कसौटी पर खरा उतारे बल्कि उसके अस्तित्व को बनाए रखते हुए उसे कहीं ज्यादा मुखर करे। इसका अर्थ यह कतई नहीं कि टीवी और फिल्म रंगमंच पर हावी होने लगे और बौद्धिक जगत का सिरमौर रंगमंच किसी बिछोरे किस्म की नौटंकीबाज राजनीति से ग्रस्त हो जाए।

भोपाल में नाट्य विद्यालय की शुरुआत निश्चित ही एक अच्छी स्वागत योग्य पहल है। लेकिन इसकी प्रस्तुतियों में गुणवत्ता को लेकर कोई समझौता नहीं होना चाहिए। बेहतर होगा उसी स्तर के नाटक तैयार हों जैसे भारत भवन के रंगमंडल में होते थे। पहले रंगकर्मियों को तपाया जाय और नाट्य प्रस्तुतियों को विद्यालयीन स्तर तक सीमित रखा जाए। इस तरह भीतरी कई मंचनों के अभ्यास के बाद आम दर्शकों को तैयार नाट्य प्रस्तुतियाँ दिखाई जाएं।

भोपाल में एक अहम चीज जो अखरती है, वो है, यहाँ विशुद्धरूप से किसी नाट्यगृह का न होना। बेशक आप भारत भवन और रवींद्र भवन में नाटक कर लीजिए। पर चूंकि उनकी बुनावट में अपेक्षित तकनीक का अभाव है इसलिए कोई भी नाट्य प्रस्तुति समग्रता के साथ खिल नहीं पाती है। यदि म.प्र. में रंगमंच को वाकई बढ़ावा देना है तो सरकार को चाहिए कि महाराष्ट्र सरकार जैसी प्रोत्साहनकारी नीतियों को अपनाए और ईमानदारी पूर्वक निबाहे। इससे प्रोफेशनलिज्म को बढ़ावा मिलेगा। महाराष्ट्र में बकायदा सरकार की ओर से नाट्य स्पर्धाएं आयोजित होती हैं और नाटक के हर विभाग को ईनाम इकराम से नवाज़ा जाता है। यही वजह है कि आज मराठी थिएटर अपनी सार्थक पहचान बनाए हुए है। मराठी थिएटर से जुड़े अभिनेता, लेखक, रुप सज्जाकार, मंच व्यवस्थापक आदि आज हमें इसीलिए आर्थिक रूप से सम्पन्न दिखाई पड़ते हैं।

चिंगारी नहीं, आग चाहिए

पापिया दासगुप्ता, *अभिनेत्री*

कला कोई भी हो। अच्छा-बुरा दौर इसमें हमेशा आता जाता रहा है। यह बात भोपाल के रंगमंच पर भी लागू होती है। अतीत पर नजर डालें तो अस्सी से नब्बे का दौर भोपाल के रंगमंच के लिए काफी समृद्धशाली साबित हुआ। भारतीय परिदृश्य में भोपाल की धाक जमी। कारंतजी की कार्यशालाओं से यहाँ के नाट्य आंदोलन ने जोर पकड़ा। अंतर्राष्ट्रीय स्तर के नाट्य निर्देशकों की आमद हुई और उनकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों ने अनुभव का यादगार तोहफा न सिर्फ नाट्यप्रेमियों को बल्कि रंगमंच के कलाकारों को दिया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर की रंगमंचीय विविधता को अलग-अलग मानकों, पैमानों में देखना एक तरह से जीवन को सार्थक करना लगा। निश्चित ही इसमें भारत भवन का बड़ा बहुत बड़ा योगदान है। फिर हबीबजी का भोपाल को अपनी तपोभूमि बनाना भी काफी महत्वपूर्ण था।

भारत भवन की रंग गतिविधियों ने दरअसल स्वस्थ प्रतिस्पर्धा और रंगमंचीय मानक का मुहावरा गढ़ा। भारत भवन के प्रोडक्शन्स से जो चालीस पचास नाट्य संस्थाएं सक्रिय थीं उनमें नए उत्साह का संचार हुआ और भारत भवन से बीसा करने का संकल्प भाव भी। चूंकि भारत भवन रंगमंचीय संसाधनों से लैस था और दीगर संस्थाएं कहीं उसके मुकाबले पिछड़ी हुई थीं। इसके बावजूद उस होड़ में

अच्छे-बुरे दोनों ही तरह के नाट्य अविष्कार सामने आए। फिर टीवी की चाह में भी कुछ कलाकारों ने बुनियादी प्रशिक्षण बतौर भोपाल के रंगमंच पर दस्तक दी। उनमें से कुछ कलाकारों ने बाकई दोनों माध्यमों में काफी शोहरत हासिल की।

अतीत और आज के बारे में सोचती हूँ तो बड़ा फासला नजर आता है। जिस संकल्प और आस्था के साथ हमारे दौर के कलाकार चरित्र में रचते-बसते थे वैसी संकल्पशीलता और आत्मविश्वास आज के कलाकारों में बहुत कम या कभी-कभी तो नहीं के बराबर नजर आता है। चरित्रों की बनक के खातिर हम लोग समाज में नजर दौड़ाते थे। अलग-अलग हाव-भाव को संकलित करने का आग्रह और जज्बा रहता था। आज का अभिनेता नाट्य आलेख में दर्ज चरित्र की कदकाठी को सही-सही नापने और भाँपने में आंशिक भी सफल हो जाए तो बड़ी बात मानिए। ताज्जुब होता है आज हफ्ते दस दिन में नाटक कैसे तैयार हो जाते हैं जबकि हमारे समय में दो-ढाई महीने सिर्फ नाट्य पाठ चलता था। पाठ के दौरान संवाद अदायगी के तौर तरीकों और दैहिक भाषा की कल्पनाओं संभावनाओं की तरफ बहुत बारीकी से सार्थक बहस के बीच सोचा गुना जाता था। कई दिनों तक लम्बी रिहर्सल होती थी। तब कहीं जाकर कलाकार नाट्य विचार को मंच पर शिद्दत से मुखर कर पाता था। आज सब कुछ सतही और थोथा नजर आता है तो इसकी स्पष्ट वजह है अभिनय और निर्देशक पक्ष का लक्ष्य रंगमंच के बहाने नाम कमाना है, काम कमाना नहीं। पर क्या उनका नाम लोगों की स्मृतियों में कायम रह पाएगा उन्हें इस बात का विश्लेषण करना चाहिए। अवाक रह जाती हूँ, जब देखती हूं कि एक दो नाटकों में छोटी मोटी भूमिका निभाने वाला कोई एक्टर जिसके पास ढंग का कोई शऊर नहीं है वो रातों रात निर्देशक बन जाता है और धड़ल्ले से नाटक-दर-नाटक करता है।

हालांकि भोपाल के रंगमंच की ऐसी स्थिति को लेकर निराश होने की जरूरत नहीं है। कलाकारों को चाहिए वे कहानी, कविताएं और उपन्यास खूब पढ़ें। चरित्रों को आत्मसात करने की कुव्वत पैदा करें। मैं बहुत आशावादी हूँ इसलिए कह सकती हूँ एक मर्तबा फिर भोपाल के रंगमंच का स्वर्णिम दौर आएगा। फिलहाल हमें समय के साथ जो कि तरह-तरह की चुनौतियों और व्यस्तताओं से भरा है, समझौता करना ही होगा। सुझाव यह भी है कि नाटक के लिए भारत भवन का किराया कम से कम किया जाए। भारत भवन को पैसा कमाना है तो कार्पोरेट द्वारा आयोजित कार्यक्रमों से कमाए नाटकों से नहीं।

जैसा कि भारत भवन रंगमंडल की पुनर्स्थापना की बात चल रही और इसकी विमर्श समिति में मैं भी शामिल हूँ। कह सकती हूँ कि रंगमंडल शुरू होने के बाद पुनः स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का दौर कायम होगा। एक नई लहर रंगमंच का स्तर सुधारने के लिए प्रेरित और विवश करेगी। ऐसा नहीं है कि आज सब कुछ खराब हो रहा है। एक चिंगारी देखने को जरूर मिल रही है पर हमें आग चाहिए।

जल्दबाजी से घटी गुणवत्ता

हरीश त्रिवेदी *अभिनेता, नाट्य निर्देशक*

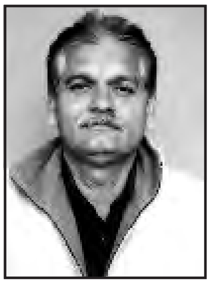

भीतर से अनुशासन छिटकता है तो मानिए सब कुछ दूर हो गया। आचार-विचार, संस्कार यहाँ तक कि विरासत में मिला सुसंगठित और सौहार्द का वातावरण भी तितर-बितर हो जाता है। भोपाल में 1973 से अपनी 1982 तक की सतत रंगमंचीय सक्रियता और उसके बाद की तटस्थता से अब तक की भोपाल की रंगमंचीय दिशा और दशा के बारे में सोचता हूँ तो अनुशासन और प्रतिबद्धता को लेकर ज्यादा नहीं तो कुछ तो फर्क महसूस होता है। नाटक महज निर्देशक की व्यक्तिगत नहीं बल्कि सभी कलाकारों की व्यक्तिगत जिम्मेदारी है। आज यह जिम्मेदारी ना के बराबर दिखाई देती है। 1973 के दौर में अभिनेता को घर-घर टिकिट बेचने पड़ते थे। मेकअप वस्त्र विन्यास प्रकाश आकल्पन सहित नेपथ्य की अन्य जिम्मेदारियों का निर्वहन एक टीम वर्क की तरह करना होता था। चूंकि टीवी और फिल्मों के लोलुप आग्रह दिलोदिमाग पर सवार नहीं थे लिहाजा रंगमंच पर सार्थक पहचान और कुछ कर गुजरने की प्रबल इच्छा शक्ति अभिनेता को गंभीर और विचारवान बनाने में मददगार होती थी। आज नाट्य प्रस्तुतियों में कच्चेपन की सबसे बड़ी वजह है अभिनेता और काफी हद तक निर्देशक का सीमित समय में अधकचरा होमवर्क और आननफानन में नाट्य मंचन का दबाव।

भाऊ खिरवड़कर, बेनू गाँगुली, मुकेश शर्मा, नीलम मानसिंह चौधरी ज्योति स्वरूप यदुराज सिंह जैसे निर्देशकों के साथ काम करते हुए शिद्दत से महसूस किया कि नाटक का प्राण सिर्फ सशक्त अभिनय होता है। हालांकि आज तरह-तरह के तकनीकि पक्षों के चलते अभिनेता को बहुत सी चुनौतियों से बचा लिया है। गायन, वादन, नृत्य चूंकि अभिनय के साथ जीवंतता बनाए रखते थे इसलिए अभिनय में इन तीनों शर्तों की शुमारी नितांत आवश्यक हुआ करती थी। आज के रिकार्डेड संगीत ने इन आवश्यकताओं को लगभग खारिज कर दिया है।

दरअसल नाटक दर्शकों को भावनात्मक रूप से ब्लैकमेल करता है। जिन घटनाओं को जीवंत कर अभिनेता भूल जाता है दर्शक उन पर हँसते हैं रोते हैं दर्शक उन्हें अपने साथ घर ले जाता है। उन्हें औरों से साझा करता है। निर्देशक वो ही सफल है जो दर्शकों की नब्ज पकड़ सके और दर्शकों में यह प्रवृत्ति बनाए रखे। आमतौर पर निर्देशक किसी बड़े लेखक की स्क्रीप्ट में तनिक भी रद्दोबदल से घबराता है। लगता है उसकी निंदा होगी लेकिन जहां पूरी समझबूझ के साथ यह भरोसा हो कि फलाँ-फलाँ संवादों में दृश्य विषयांतर से नाटक ज्यादा प्रियकर हो सकता है निश्चित ही वहाँ बिनाहर्ज नाटक में बदलाव होना चाहिए। इधर कुछ वर्षों से एक नागवार चलन यह हो गया है कि किसी निर्देशक की किसी एक प्रस्तुति को देखकर ही उसकी प्रतिभा को लेकर अच्छे बुरे की धोखा बना लेते हैं। इस तरह पिछली सुंदर और भविष्य में संभावित उसकी बेहतर प्रस्तुतियों को नजरअंदाज कर देते हैं।

भोपाल में पनपी नाट्यकर्म की गुटबाजी में इस बात का भी बड़ा रोल है। फिर नाट्य प्रस्तुतियाँ गुणवत्तापूर्ण होगी तो निश्चिंत ही गुजबाजी खत्म होगी।

यह कहना गलत है कि अभिनय में पैसा नहीं है। संभवतः मैं पहला ऐसा अभिनेता था जिसने भोपाल में सशुल्क अभिनय किया और बेनू गाँगूली ने मेरी क्षमताओं के मद्देनजर तब सम्मानजनक राशि मुझे प्रदान की। मेरा स्पष्ट मत है कि जब आपमें काबिलियत होगी और इतनी काबिलियत कि निर्देशक को आपके काबिल अन्य विकल्प नहीं उपलब्ध नहीं हो तब शोहरत और दौलत दोनों आपका द्वार खटखटाएगी। अभिनय की नई पीढ़ी को चाहिए कि रुझान, प्रतिबद्धता और जुझारूपन के साथ-साथ अभिनय के लिए जरूरी नियमित अभ्यास को अपनाए। आप अच्छे एक्टर होंगे तो आपकी माँगपूर्ति होगी ही।

भोपाल में रिहर्सल प्लेस की माँग नई नहीं है। अशोक वाजपेयी तब संस्कृति सचिव थे तब मैंने कुछ साथियों के साथ उन्हें एक ज्ञापन दिया था। उन्होंने यह माँग शीघ्र पूरा करने का आश्वासन भी दिया था। लेकिन इन अट्ठाइस वर्षों में कुछ भी नहीं हुआ। भोपाल में रंगमंच की भलाई के लिए रिहर्सल प्लेस के अलावा टैगोर हाल और भारत भवन का किराया नाटकों के लिए कम से कम होना चाहिए। इसके अलावा इन प्रेक्षाग्रहों में सबसे पहले नाटकों को प्राथमिकता मिलना चाहिए।

राजनीति से दूर रहे नाट्य विद्यालय

सरोज शर्मा *अभिनेत्री, निर्देशक*

राजीव भाई (अभिनेता राजीव वर्मा) का एक बयान रह रहकर याद आता है। उन्होंने कहा था- 'सरकारें और दीगर संस्थाएं जो कला को प्रोत्साहित करने का दावा करती हैं वे किसी स्थापित कलाकार को तो तरह-तरह के ईनाम से नवाजती हैं लेकिन जब किसी कलाकार को उसके संघर्षकाल में वाकई मदद की जरूरत होती है तब कोई आगे नहीं आता।'' दरअसल यह पक्षपात ही सबसे बड़ी विडम्बना है।

मैं भोपाल में नाट्य विद्यालय का तहेदिल से स्वागत करती हूँ। लेकिन इसके समानांतर भारत भवन रंगमंडल के पुनर्जीवन की इच्छुक भी हूँ ताकि भोपाल बल्कि कमोबेश पूरे मध्यप्रदेश में रंगमंच के नाम पर ज्यादातर जो अशोभनीय स्थिति आज पनप रही है, खत्म हो। एक बेहतर चुनौती के जरिए ही हममें स्वस्थ स्पर्धा जागृत हो सकती है। आज नाटक को धनोपार्जन के जिस तरह प्रोफेशनल थिएटर समझा जा रहा है और जिसमें गुणवत्ता काफी हद तक नजरअंदाज हो रही है वो थिएटर के लिए बहुत ही घातक है। कहना चाहूंगी, वर्षभर में पचास-साठ नाटक करके रिज्युम बढ़ाने से लाख गुना बेहतर है, साल भर में एक-दो सार्थक काम किए जाएं। ताकि हमें आत्म संतुष्टि मिले और आने वाला कल हमें शिद्दत से याद कर सके।

हास्यास्पद किन्तु दुखद स्थिति यह है कि आज नाटक के नाम पर जिस तरह की बंदरबाँट हो रही है उससे तादाद की दृष्टि से खूब नाटक हो रहे हैं। राजधानी से लेकर जिला मुख्यालयों और अन्य स्थानों पर भी पर क्या सचमुच संस्कारशील रंगमंच हो रहा है यह प्रश्न विचारणीय है। रंगकर्म की दुनिया में कुछ लोग तो ऐसे अवतरित हो गए हैं जिन्हें रंगमंचीय व्याकरण का ककहरा भी नहीं मालूम। सिर्फ प्रोजेक्ट पा लेने की गरज से उन्होंने नाटक करना शुरू कर दिया है और अनुभवी वरिष्ठ रंगकर्मी जिन्होंने अपना जीवन झोंक दिया वे हाशिए के किसी कोने में दमसिकुड़ कर इस अराजकता को देखने के लिए विवश नजर आते हैं।

नाट्य विद्यालय खुले। बहुत अच्छी बात है। लेकिन सरकार को चाहिए कि उसके दूरगामी परिणामों पर भी सोचे। भारत भवन रंगमंडल की तरह कहीं इसका भी हश्र न हो। प्रशिक्षित होने के बाद वे कलाकार क्या करेंगे इसके बारे में भी कोई क्या योजना तय की गई है? उनकी स्थिति भी क्या विभा मिश्रा, भूषण दिल्लौरी, द्वारका जैसे कलाकारों की तरह होगी। मतलब यह कि 1981-2000 तक जो कलाकार भारत भवन रंगमंडल से प्रशिक्षित हुए उनके लिए संस्कृति महकमे ने क्या किया। वे वांछित अपेक्षाओं से क्यों खारिज कर दिए गए। उन्हें सालभर में ज्यादा न सही, एक दो मौके तो कम से कम ऐसे मिलना चाहिए जिसके जरिए वे अपना अनुभव साझा कर सकें और उनकी प्रस्तुतियों से नई पीढ़ी कुछ सीखे!

सही सोच और यथार्थवादी दिशा से ही कारंतजी जैसे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। निश्चित ही इसके पीछे कड़ा संघर्ष व तप लगता है। ज़रा कल्पना कीजिए यदि ऐसे ही हालात रहे तो तीस-चालीस वर्ष बाद कितने कारंत बन जाएंगे। मैं खुद गैर व्यवसायिक से व्यवसायिक रंगमंच की दुनिया में आई हूँ लेकिन आज युवा वर्ग की सोच में जो सबसे बड़ी गड़बड़ है वो यह मान लेने की है कि वे अपने वरिष्ठ के समकक्ष हैं या उन्हें लाँघ चुके हैं। उदय शहाणे दीपक तिवारी पापिया जी, आलोक गच्छ जैसे कुछ अमेच्ओर रंगकर्मी हैं जिन्होंने मेच्ओर रंगकर्मियों की तुलना में कहीं ज्यादा बड़ी और गहरी लकीर खींची है। हालांकि मेच्ओर रंगकर्म की उपस्थिति को भी सिरे से खारिज नहीं किया जा सकता। ऐसा भी नहीं कि नवागत सारे रंगकर्मी घटिया काम कर रहे हैं। कुछ युवा वाकई बेहतर हैं जिन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

मैं यदि भारत भवन रंगमंडल का सपना संजोए बैठी हूँ तो इसके पीछे एक वजह यह है कि नाट्य विद्यालय के समकक्ष एक और संस्था काम करेगी। इससे नए रंगकर्मियों के सामने दो तरह के उदाहरण होंगे। खुद को संजोने और संवारने के लिए। लेकिन इसमें स्थानीय राजनीति का दखल बिल्कुल नहीं होना चाहिए। जिस तरह की राजेन्द्र गुप्त को निर्देशक बनाए जाते वक्त हुई थी। इसी घृणित स्थानीय राजनीति के चलते तब भारत भवन को राजेन्द्र गुप्त जैसे परिपक्व रंगकर्मी से महरूम होना पड़ा था। आखिर क्यों अपने-अपने स्वार्थ की रोटी सेंकने वाली राजनीति की इतनी परवाह की जाती है? अशोक वाजपेयी जी ने कारंतजी को निदेशक बनाया था तो उन्होंने किसी की परवाह नहीं की। स्थानीय स्तर पर किसी तरह की कोई

रायशुमारी नहीं ली। लेकिन जो कारंतजी ने जो मुहावरा गढ़ा वो सबके सामने है। आज देवेन्द्रराज अंकुर, रामगोपाल बजाज जैसे मानक रंगकर्मी हैं जिन्हें भारत भवन रंगमंडल की कमान सौंपी जा सकती है, बशर्ते हम ओछी राजनीति से उबरकर सच्ची सृजनात्मकता के बारे में सोचें। रंगमंडल का निर्देशक और प्रदेशिक स्तर की गुटबाजी को पनपने का अवसर न मिले। मैं रहूँ, ना रहूँ पर रंगमंडल होना चाहिए। इससे कारंतजी की आत्मा को शांति मिलेगी।

समझौता परस्ती खत्म हो

अनूप जोशी 'बंटी' *नाट्य निर्देशक*

इसमें दो राय नहीं है कि आज भोपाल का रंगमंडल काफी सक्रिय है। संख्यात्मक दृष्टि से बहुत काम हो रहा है लेकिन गुणवत्ता जैसे ठहर सी गई है या इक्का-दुक्का दिखाई देती है। इसके लिए मीडिया, खासकर प्रिंट मीडिया जिम्मेदार है। आज किसी भी नाटक की कहीं कोई ऐसी सलीके की समीक्षा देखने को नहीं मिलती जो सही-गलत का भान करा सके। दरअसल मीडिया को जागरूक होने की जरूरत है वो भी ऊपर से नीचे तक। अखबार में नाटक के बारे में वे ही लिखें जो इसके जानकार हों और बड़े फोटो के बजाए समीक्षापरक शब्दों को तवज्जो दें। ऐसे समाचारों को बड़ा स्पेस मिलना चाहिए। नाटक होना कोई घटना-दुर्घटना नहीं है जिसका समाचार छपे। दरअसल यह एक विचारपूर्ण स्फूर्त आंदोलन है जिसे एक परिपक्व तथा चिंतनपरक शाब्दिक चेतना की जरूरत होती है ताकि दूध का दूध और पानी का पानी देखने की दृष्टि समाज तक पहुंच सके। जिस तरह मिलिट्री में शारीरिक व मानसिक रूप से अयोग्य व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं होता लगभग वैसी ही स्थिति कला के क्षेत्र में भी होनी चाहिए। रंगमंडल की अपनी प्रतिज्ञाएं और मानक होते हैं। जिनसे समझौते का अर्थ है रंगमंच को गर्त में ले जाना।

मैं उन भाग्यशाली लोगों में से हूँ जिन्हें भारत भवन रंगमंडल का सदस्यता मिल सकी। वो रंगमंडल जो अपनी गुणवत्ता की वजह से आज भी दुनिया भर में ससम्मान स्मृतिवान है। रंगमंडल में रहते हुए मुझे दुनियाभर के ख्यातिप्राप्त रंग निर्देशकों जिनकी अपनी अलग शैली और पद्धति रही है, के साथ काम करने का मौका मिला। भारत भवन की अवधारणा सर्वोच्च श्रेष्ठ कला आग्रहों को समर्पित रही है। भारत भवन की शर्तों में कला को प्रोत्साहित करने जैसी बातें शामिल नहीं थीं इसके लिए तो कला परिषद् जैसी संस्थाएं सक्रिय रही हैं दरअसल भारत भवन का उद्देश्य कला के नए मानक तैयार करना रहा है और यह काम उसने कला के अन्य आयाम चित्रकला, नृत्य, संगीत के साथ-साथ नाटकों में भी बखूब कर दिखाया है। लेकिन आज वहाँ अधिकांश नाटकों की जैसी फजीहत देखने को मिलती है वो काफी दुःखद है। नाटक में यदि रंगमंडल की दुनियाभर में ठसक कायम हुई तो इसकी वजह यह थी कि सारे कलाकारों का चयन पूरी पारदर्शिता और ईमानदारी से हुआ था और चूंकि कलाकार एक वर्ष के कांट्रेक्ट पर काम करते थे तो लाजिमी था कि उनमें अपने भविष्य और शिनाख्त को लेकर एक जद्दोजहद, एक चिंता काम करती थी। रंगमंडल ही ऐसा विभाग था जिसने भारत भवन को कमाई दी वरना अन्य विभागों पर तो सरकार का सिर्फ व्यय ही हुआ है। बेहिचक कह सकता हूँ जितना समृद्ध और अनुभवशील बायोडाटा हम रंगमंडल के कलाकारों के पास है वैसा देशभर में दीगर रंगकर्मियों के पास नहीं है। लेकिन हमारी स्थिति घर की मुर्गी दाल बराबर है।

मैं भारत भवन रंगमंडल पुनः शुरू किए जाने का घोर हिमायती हूँ। आखिर किन वजहों से इसे 10 वर्षों से बंद कर रखा है, क्यों नहीं खोला गया। लेकिन चाहता हूँ कि इसकी जैसी प्रतिष्ठा बनी हुई उसी स्तर की संकल्पशीलता यहाँ काम करे वरना इसे बंद ही रहने दिया जाए तो बेहतर है। क्योंकि अंतिम स्मृति पुरानी तमाम बातों को मिटा देती है। परस्पर पीठ थपथपाने और निंदा करने से बेहतर यह होना चाहिए कि हम विमर्श के जरिए, जिसमें मीडिया अनिवार्यतः शामिल हो, कोई ऐसा हल खोजें जिससे रंगमंच की मौजूदा स्थिति में सकारात्मक सुधार हो। नाट्य विद्यालय शुरू होने से पहले यह तय कर लिया जाना चाहिए कि प्रशिक्षुओं को कैसे एक्सटेंशन मिलेगा। यदि विद्यालय से शिक्षा के बाद कलाकार टीवी की तरफ रुख करते हैं तो यह एक तरह से विद्यालय की हार होगी इससे तो अच्छा होगा टीवी स्कूल खोला जाए। नाटक के लिए कोई भी नाटक किए जाने की कोई गुंजाइश न कभी रही है और न रहेगी। इसी तरह चयन के मामले भी आयु सीमा जैसा कोई बंधन नहीं होना चाहिए। प्रतिभा तो प्रतिभा है जो हर हाल में दिखती है।

नई पीढ़ी को विश्वास की दरकार

नीति श्रीवास्तव *अभिनेत्री*

हिन्दी रंगमंच को आज हर दृष्टि से ईमानदारी की बहुत जरूरत है। यह बात बेमानी है कि कलाकारों को पैसा नहीं मिलता। दरअसल हमें लेना नहीं आता या हममे लेने की कुब्बत नहीं है। सरकार द्वारा रेपेटरीज को एक गुरु छः शिष्यों की परम्परा के तहत इसीलिए ग्रांट दी जाती है कि सातों को आर्थिक लाभ मिले और श्रेष्ठ रंगकर्म को बढ़ावा मिले। इसमें दो राय नहीं कि भारत भवन के अस्तित्व में आने से प्रबुद्ध नाट्यप्रेमियों की बिरादरी में इजाफा हुआ है। मेरा स्पष्ट मानना है कि बंशीकौल, रतन थियम, अलखनंदन जैसे नाट्य मनीषियों की तर्ज पर गुणवत्ता पूर्ण नाटक तैयार किए जाएं तो रंगमंच की

बेचारगी भरी स्थिति में आमूलचूल बदलाव आएगा। आज रंगकर्मियों में अध्ययन की प्रवृत्ति न होने से रंगमंच पर विपरीत प्रभाव हो रहा है। जबकि आलोक चटर्जी, बंसीकौल आदि साथी कलाकारों के सलाह देते हैं कि डीए डीए की राशि से कोई अच्छी किताब खरीदी जाए। किताब से क्या पढ़ा इस पर बकायदा चर्चा होती है। बल्कि बंशी दा तो कहते हैं सोते समय बेशक अपने इष्ट का ध्यान मत करो लेकिन सिराहने किसी किताब को रखो और उसका अध्ययन चिंतन करो। इससे रंगमंचीय संस्कारों को पनपने का वातावरण मिलता है। जनसामान्य से जुड़ने और कुछ सीखने की ललक, परम्परा के खत्म होने से आज अभिनेता स्वयं में जीने लगा है। न तो चरित्र पर व्यापक चर्चा होती है और ना ही समीक्षा। कई बार लगता है रंगकर्मी न्याय नहीं, समझौता कर रहा है रंगमंच पर भी और बाहर भी। आज रंगकर्मियों की नई पीढ़ी को भयरहित विश्वसनीय वातावरण की जरूरत है।

भोपाल में नाट्य विद्यालय का इस मायने में स्वागत होना चाहिए कि इससे प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी और नाट्य प्रस्तुतियों की गुणवत्ता में सुधार होगा। जहाँ तक नए लेखकों को लेकर भरोसे की बात है तो मैं दो दिलचस्प उदाहरण देना चाहूंगी- राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय नए लोगों से नाट्य आलेख आमंत्रित करता है। ऐसी ही एक स्क्रीप्ट 'धोबी घाट से श्मसान घाट तक' बंसी दा को सौंपी गई। पाठ के दौरान बंसी को वो स्क्रीप्ट बिल्कुल नहीं भायी। उनकी दृष्टि में वो स्क्रीप्ट रंगमंच के हिसाब से मुकम्मल नहीं थी। लेकिन अपनी सूझबूझ से उन्होंने उस स्क्रीप्ट को इतना भव्य बना दिया कि लेखक के अलावा रंगमंच के अन्य पंडित भी हतप्रभ रह गए। इसी तरह स्थानीय रंगकर्मी संजय श्रीवास्तव द्वारा मेहरुन्निसा परवेज की कहानी 'ओढ़ना' पर आधारित नाट्य रूपांतरण तथा स्वरचित नाटक 'छुट्टी' को काफी प्रतिसाद मिला। अभिप्राय यह कि नए लेखकों को तलाशा और तराशा जाए। जहाँ तक बुरे की बात है तो कई उदाहरण हैं कि प्रसिद्ध नाट्य कृतियों का गुड़गोबर किया गया है।

दो महत्वपूर्ण सुझाव देना चाहूंगी एक यह कि स्थानीय लेखकों के नाट्य आलेखों पर एकाग्र एक समारोह आयोजित होना चाहिए। इससे नए लेखन को प्रोत्साहन मिलेगा और हिन्दी में नाटकों की कमी की बात दूर होगी। दूसरा यह कि एक ही नाटक को अलग-अलग निर्देशकों से कराया जाए और बारी-बारी एक ही प्रेक्षाग्रह में उसका मंचन हो। इससे एक ही नाटक के जरिए अलग-अलग निर्देशकों की प्रवृत्तियाँ उजागर होंगी जो नवोदित और अनुभवी दोनों ही रंगकर्मियों के सबक का माहौल बनाएगी।

नाटक की बनती बिगड़ती शैलियाँ

उत्पल दत्त

एक बहुरूपी शख्यिसत उत्पल दत्त को उनके जोशीले कामकाज, भव्य क्रांतिकारी नाटकों के लिए याद रखा जाएगा। उनके नाटक अक्सर खुले में हजारों दर्शकों के सामने खेले गए। उत्पल दत्त एक उत्तम अभिनेता भी थे जिन्होंने करोड़ों दर्शकों और प्रशंसकों की वाहवाही पाई। लेकिन इस सब के बावजूद उत्पल दत्त का सबसे चिरस्थाई योगदान शायद प्राथमिक रूप से अवधारणात्मक ही साबित हो। उनकी अतिवादी और बहसपूर्ण शैली के मद्देनजर ये थोड़ा अजीब प्रतीत हो सकता है लेकिन ध्यान से पढ़ने पर एक मौलिकता और नफासत उनके आलेखों में नजर आती है। अभिनेता उत्पल दत्त अपने सर्वहारा दर्शकों के प्रति हमेशा सजग हैं, वे उनकी जरूरत को समझते हैं उनको संबोधित करते हैं। इस लेख का पहला हिस्सा विश्व सिनेमा में उबाऊपन (बोरडम) के चित्रण के महान मास्टर सत्यजीत राय का एक अध्ययन है। दूसरे आलेख में दत्त ये दलील देते हैं कि हर नया शासक वर्ग पुराने शासक वर्ग को उखाड़ते वक्त अपने मिथक बनाता है। दत्त जो कि जात्रा के बड़े प्रशंसक थे, इस विधा में भविष्य में सर्वहारा के मिथकों के वहन की संभावनाओं को देखते हैं। तीसरे अंश में बुर्जुआ द्वारा मंच कौशल को बर्बाद किए जाने और एक गतिशील मंच कौशल जो लोकप्रिय सर्वहारा थियेटर के लिए उपयुक्त होगा, के निर्माण में अपने प्रयोगों का वो जिक्र करते हैं।

एक एपिक अंदाज के थियेटर की पुनर्स्थापना के लिए सबसे पहले हमें मंच को उन छिछोरे ढांचों से छुटकारा दिलवाना है जिन्हें 'बॉक्स सेट' कहा जाता है। ये टी.वी. सीरियल की तरह की मध्यमवर्गीय कॉमेडियों के लिए ही काफी है, कुछ भी बड़ा इनमें फिट नहीं हो सकता। मंच के चौड़े विस्तार को अपने नायकों और खलनायकों के लंबे डगों के लिए मुक्त कर दें। मैं एक काले पर्दे के सामने अभिनय की वकालत नहीं कर रहा हूं, सेट के इस्तेमाल में मेरा पक्का यकीन है, मगर एक गतिशील रूप में, अभिनेताओं के लिए एक न बदलने वाली रुकी हुई पृष्ठभूमि के रूप में नहीं। एक ऐसा सेट जो कि ऐक्शन में भागीदारी करेगा, जो यथार्थ की नकल नहीं बल्कि एक चुनौतीपूर्ण ढंग से असमरूप होगा। ये अब लगभग भुला दिया गया है कि लटकने वाले पर्दा चित्र (hangings) मूलरूप में घिरे हुए पर्दों के पीछे चुपके से बदल दिए जाने वाले, बाग बगीचों, अंदरूनी सज्जा इत्यादि को दर्शाने वाले चित्रों के रूप में नहीं आंके गए थे बल्कि उन्हें नाटकीय क्षणों में दर्शकों की आंखों के सामने उठाया और गिराया जाता था और इन पर मसखरे का चेहरा, बिजली की कौंध दर्शाती चांदी की धारी, या फिर शायद एक काले खेत में एक विशाल सफेद मौत का सिर अंकित होता था।

पुनर्जागरण के काल के इटली में और पेकिंग ऑपेरा में चित्रित किए हुए दृश्यों का यही प्रयोजन था। ये भी अक्सर भुला दिया जाता है कि घूमने वाली डिस्क का आविष्कार सेट बदलने के लिए किया गया था ताकि एक विशेष नाटकीय क्षण को प्रबल किया जा सके। ये तमाम चीजें यथार्थवादी बुर्जुआ को नकली लगती हैं। एक कमरा घूम कैसे सकता है? एकाएक पहाड़ की चोटी की तस्वीर एक अभिनेता पर कैसे टूट पड़ती है। नाटक से तमाम लाक्षणिक सोच खत्म हो गई। दो सौ साल तक अभिधेयार्थवादी मूर्खता की पकड़ थी। नाटकीय कल्पना और काव्यात्मक प्रतीकवाद का निषेध था। जो कुछ भी फोटोग्राफिक प्रकृतिवाद का अतिक्रमण करता था वो अवास्तविक माना जाता था।

हम कुछ सालों से नाट्य शिल्प के उस रूप के साथ कुछ प्रयोग कर रहे हैं जैसा कि वो बुर्जुआ द्वारा उसकी गतिशीलता को नष्ट कर देने के पहले के दिनों में था। हमें खुशी है कि हम कुछ महत्वपूर्ण सफलताएं बता सकते हैं। आधुनिक दर्शक बुर्जुआ की पूर्वाग्रह की गिरफ्त में

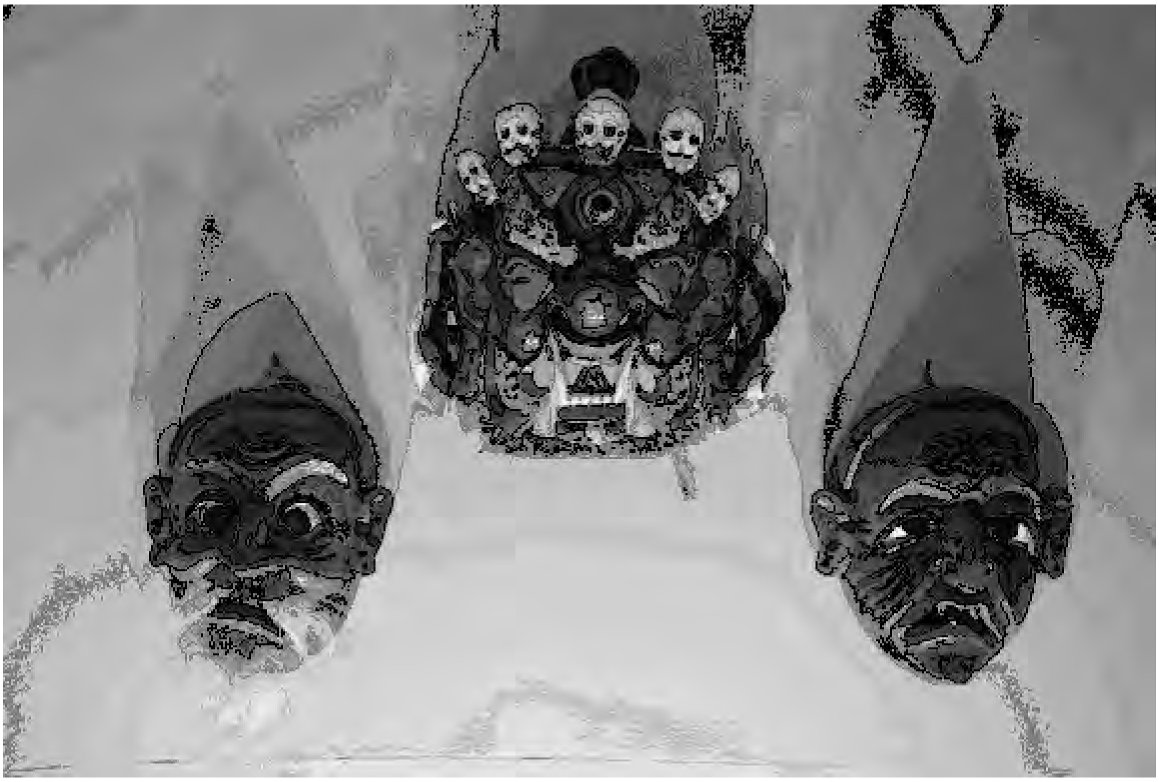

नहीं है। वो चित्रित दृश्यों और घूमते डिस्क द्वारा नाटक के ऐक्शन में दखल देने के औचित्य पर सवाल नहीं उठाता बल्कि इसके ठीक विपरीत वो वाहवाही से इसकी प्रशंसा करता है। मंच के पार्श्व में रखे हमेशा के बेजान पदार्थ के इस असाधारण आचरण से उसे सुखदकारी विस्मय की अनुभूति होती है। नाट्य शिल्प का ये कौशल वही प्रयोजन सिद्ध करता है जिसे ब्रेख्त ने म्तेजनदमद जीमवतल कहा है, दोनों ही दर्शक के एलियनेशन को खत्म करते हैं।

हमारे नाटक टोटा में हम 1857 के संग्राम की दिल्ली घटना को दर्शाते हैं। मंच पर एक बड़ी सफेद छतरी के अलावा किसी और चीज का इस्तेमाल हम नहीं करते। इस छतरी को तारों की मदद से परिचालित किया जाता है, जिससे दर्शकों की आंखों के सामने ही ये अलग-अलग शक्लें इख्तियार करती है- एक पहाड़ी, एक तंबू, एक लहलहाता खेत। जिस दृश्य में मेरठ में सैनिकों का एक अपरिपक्व विद्रोह फूट पड़ता है छतरी किसी वस्तु को नहीं दर्शाती बल्कि गोरे अफसरों से बदले की ललकार के प्रत्युत्तर में ऊपर नीचे फड़फड़ाती है। लाल किले के दृश्य में जब विद्रोही सिपाही कमजोर बादशाह बहादुरशाह को जंग का नेतृत्व संभालने के लिए मजबूर करने के लिए आते हैं तो कथ्य की जरूरत के मुताबिक, बादशाह को अंततः जमा भीड़ को दर्शन देने पड़ते हैं। हमने खिड़की को एक तरफ, डिस्क के कोने पर रखा था। जैसे ही हिचकिचाहट से भरा बादशाह खिड़की की तरफ, डिस्क के कोने पर रखा था। जैसे ही हिचकिचाहट से भरा बादशाह खिड़की की तरफ बढ़ता है हम डिस्क को घुमाते हैं और खिड़की घूमकर डाउन सेंटर में आ जाती है और बादशाह को फ्रेम करती है। ये एक सत्तर साल के बूढ़े, बीमार, कमजोर बहादुरशाह जो कि उसे युद्ध में उनकी रहनुमाई करने का आह्वान कर रही देशभक्त रियाया के सामने है, की भावनात्मक अपील को मजबूती प्रदान करती है।

नाटक जैसे उसे हम आज जानते हैं इस रूप से मूलतः यूरोप से यहां आया था किन्तु अब इसे एक भारतीय माध्यम के रूप में मान्यता हैं। कुछ लोग एक असली भारतीय नाटक की गुहार करते हैं इसका जो भी मतलब था शायद ये वैसे नाटक की पुनर्रचना है जैसा नाटक कालिदास के जमाने में होता था। ये निहायत ही बेतुका है। कोई नहीं जानता कालिदास के जमाने में नाटक कैसे होता था और अगर हम उसकी पुनर्रचना कर भी लेते हैं तो वो नाटक आज के आधुनिक इतर दर्शक को फौरन ही सुला देगा। यूरोपीय नाटक अब यहां है और रहेगा वैसे ही जैसे दुनिया भर के कलारूप एक दूसरे के और नजदीक हो रहे हैं। गजब की चीज है ये यूरोपियन नाटक, अगर इससे हम उन तुच्छताओं को निकाल बाहर फैंके जो इस पर नवोदित बुर्जुआ ने थोप दी थीं। लेकिन नाटक के इस्तेमाल के लिए हमें इसके शिल्प की मास्टरी करनी होगी। हमें इसके हर हिस्से, प्रोसिनियम (रंगपीठ), ट्रेपडोर, एप्रन, साईक्लोरामा, टीजर (झालर), चित्रित दृश्य, निर्मित सेट, पर्दा आदि का इतिहास जाना होगा, ये पता करना होगा कब और क्यों इनका इस्तेमाल करने की दिशा में बढ़ पाएंगे। इसी तरह हमें उन कदमों को जानना होगा कि जिनसे प्रकाश व्यवस्था का धीरे धीरे प्रकाश में प्रवेश हुआ, बुर्जुआ यथार्थवादियों ने प्रकाश को मंच पर होने वाले एक्शन को दिखाने तक ही सीमित रखा। एपिया ने इसे एक नाटकीय काम दिया - नाटकीयता को बढ़ाने का गतिशील काम। भिन्न भिन्न कालों की भारतीय वेशभूषाओं का और रंगों की तरकीबों का विस्तार से अध्ययन जरूरी है। इस सबकी मास्टरी के बाद नौजवान मंच संचालक प्रयोगों के लिए तैयार है।

लेकिन हमारे कई जोशीले नौजवान बहुत उतावले हैं। वो नाटक के क्षेत्र में स्वयं को मूर्तिभंजकों की तरह पेश करने की जल्दी में हैं। वो तोड़ने की जल्दी में हैं बिना ये जाने कि वो क्या है जो जोड़ता है। वो दीवारों पर झपटते हैं अपनी कमजोरियों और ताकतों को आंके बगैर। वो नाटक के नियमों को तोड़ डालना चाहते हैं ये समझे बगैर कि उनमें से किसी को भी तोड़ने की जरूरत नहीं बल्कि आप अलग-अलग असर के लिए उनका मनमुताबिक इस्तेमाल कर सकते हैं। नाटक के मूल सिद्धांत सदियों से टिके हुए हैं। दिक्कत है उनकी गतिशीलता उनकी जीवंतता को पुनः खोजने की, उनका अतिक्रमण करने की नहीं। लेकिन हमारा नौजवान नाट्यकर्मी नाट्य शिल्प में दक्ष नहीं है उसे अपनी अज्ञानता पर गर्व है। वो प्रतिमाओं को मजे के लिए तोड़ना चाहते हैं। लोक कलाओं के लिए सरकार द्वारा उकसाया गया पागलपन भी इसमें सम्मिलित हो जाता है। अगर आपने अपने शिल्प की मास्टरी नहीं की, आप दूसरे से नहीं सीख सकते। लोक नाट्य के उपादानों को नाटक में ले कर आना जब आपकी अपने नाट्य रूप पर पकड़ ही कमजोर हो, महज एक खिचड़ी की रचना करेगी जो आपको निर्देशक के रूप में खत्म कर देगी।

इसी तरह हमारे कई जोश भरे नौजवान नाट्यकर्मी बुरे अभिनय को एक अभिमान योग्य चीज मानते हैं। वो स्पीच और शरीर मूवमेंट के मूल सिद्धांतों को नजरअंदाज करते हैं वो बुदबुदाते हैं, अस्पष्ट उच्चारण करते हैं, उनकी सांस फूलती है, वाक्य के अंत सुनाई नहीं पड़ते। संवाद का कोई भी टुकड़ा यदि रोजमर्रा की निहायत सीमित शब्दावली से बाहर होता है तो वो हांफने लगते हैं। अपने खाली समय में वो कभी काव्यपाठ नहीं करता। एक अभिनेता जो कविता को न चाहता हो अभिनेता ही नहीं। पर चूंकि वो जानता है कि वो काव्यपाठ नहीं कर सकता, अपने उच्चारण पर उसे भरोसा नहीं और उसकी सांस हरदम फूलती है। वो अपनी इन कमजोरियों को आजकल अपनी ताकत की तरह पेश करता है, वो कहता है कि वाक प्रशिक्षण की कोई जरूरत नहीं, सिर्फ पुराने ढर्रे के एक्टर ही वाकपटुता के अभ्यास में अपना जिंदगी भर का समय बेकार करते हैं, बुदबुदाना और हांफना ही आधुनिक अभिनय है। और अगर बोलना बहुत ही कष्टसाध्य कार्य हो जाए तो वो अचानक अपनी बाहों को आसपास फैंकते हुए फूट पड़ेगा और इसे वो अपनी कल्पनाशीलता से शारीरिक अभिनय का नाम देगा। ये सारे स्टंट महज इस तथ्य को छुपाने के लिए कि हमारे कई अभिनेता एक अर्थपूर्ण संवाद नहीं बोल पाते।

एक चीज जो हमारे जोशीले नौजवान नाट्यकर्मियों को पुराने पेशेवरों से सीखनी थी वो थी कि बोला कैसे जाए। जो हम घर में कहते हैं या अपने दोस्तों के बीच बोलते हैं हमसे मंच पर भी वो ही बोलने की उम्मीद नहीं की जाती। नाटक जीवन की नकल नहीं है, बल्कि एक केंद्रित रूप में उसका प्रबलीकरण है। इसलिए अगर श्रीमान पिंटर के अत्यधिक बोझिल नाटकों को छोड़ दें, तो हमारे द्वारा खेले जाने वाले नाटकों में आपको, आप कैसे हैं, क्या आप बैठेंगे नहीं, और आप क्या पी रहे हैं इत्यादि संवाद नहीं मिलेंगे। जिन्दगी का एक टुकड़ा जब एक प्रबलकारी तरीके से केंद्र में लाया जाता है तो लोर्का की काव्यात्मकता उत्पन्न होती है, इसे हर रोज के कूड़ा करकट से बहुत अधिक कहना है क्योंकि बोलने वाले को जिंदगी के साथ जुड़ना है, क्योंकि जिंदगी के एक टुकड़े को समूची जिंदगी का प्रतीक बनाना है। कितना भी शारीरिक अभिनय कर लें, कितना भी बाहों से हवा को काट लें हमारे अभिनेता नाटकीय संवाद अदायगी से पार नहीं पा सकते जब तक कि उन अमेरिकन बर्बरों की तरह जिनका जिक्र हमने शुरू किया था हम शब्दों को अपने नाटक से बिल्कुल काटकर उसे महज चीखों और कराहों से न भर दें।

अपने उत्कर्ष पर बुर्जुआ नाटक ने मनोवैज्ञानिक नाटक की रचना की। इब्सेन और चेखोव दो ऐसे दिग्गज थे जो अपने ड्राइंगरूम को ऊपरी तौर से शांत और न विचलित होने वाले बुर्जुआ पात्रों से भरा रख सकते थे, जबकि उनके जहनों में ऐसे जोरदार तूफान हिलोरे ले रहे होते थे, जिनकी परिणति अचानक आत्महत्या या शादियों के टूटने में होती थी। इब्सेन और चेखोव दोनों ने इस बात को रेखांकित किया कि उनके नाटक जिंदगी के एक तरीके को दर्शाते हैं, वो बंद गली जिसमें बुर्जुआ परिवार ने खुद को धकेल दिया है। उदाहरण के लिए चेखोव के सीगल के नायक की अंतहीन फुरसत लगभग गोर्की के लोअर डेप्थ के बेरोजगार की जबरन फुर्सत जैसी है। कार्यशीलता के इस अवरोध के माहौल में कॉन्सटन्टाईन की त्रासदी आकार लेती है। स्पष्ट है बुर्जुआ माहौल हमारी आंखों के सामने है और उसकी भर्त्सना नाटक में निहित है। लेकिन इब्सेन और चेखोव के बाद नाटककारों की एक पूरी पीढ़ी ने मनोवैज्ञानिक नाटकों की एक गजब लिस्ट पेश की है, जहां सामाजिक कारकों को पूरी तरह और जान बूझकर नजरंदाज किया गया है और त्रासदी को नाटक की सेक्स जिंदगी, उसके छुपे

हमारे कई जोशीले नौजवान बहुत उतावले हैं। वो नाटक के क्षेत्र में स्वयं को मूर्तिभंजकों की तरह पेश करने की जल्दी में हैं। वो तोड़ने की जल्दी में हैं बिना ये जाने कि वो क्या है जो जोड़ता है। वो दीवारों पर झपटते हैं अपनी कमजोरियों और ताकतों को आँके बगैर। वो नाटक के नियमों को तोड़ डालना चाहते हैं ये समझे बगैर कि उनमें से किसी को भी तोड़ने की जरूरत नहीं बल्कि आप अलग-अलग असर के लिए उनका मनमुताबिक इस्तेमाल कर सकते हैं। नाटक के मूल सिद्धांत सदियों से टिके हुए हैं।

हुए इडिपस कॉम्प्लेक्स और फ्रायड की अन्य गलत समझी थ्योरियों के जरिए उत्पन्न किया जाता है। इनमें कई बेहद जोरदार लेखक भी हैं इस बारे में कोई गलतफहमी मत रखिए।

राजनैतिक नाटक मुद्दों को धुंधले करके देखने से मुत्तफिक नहीं। आप किसी को मनोविकार ग्रसित बताकर पूरा एक्शन उसकी बीमारी पर आधारित नहीं कर सकते। अगर आप ये कर रहे हैं तो आप मुद्दे को वैयक्तिक बना रहे हैं सामाजिक मुद्दे को नजरंदाज कर रहे हैं। किसी पागल की केस हिस्ट्री दुनिया को दिखलाने की कोई वजह नहीं हो सकती। ये तो चिकित्सा शास्त्र के नैतिक मानदंडों के भी खिलाफ है। हैमलेट भी लगभग पागल हो जाता है, पर इसलिए नहीं कि वो अपनी मां के प्रति कामइच्छा रखता है, पर इसलिए क्योंकि उसके पिता को उसके चाचा ने मारा है। क्योंकि डेनमार्क के राज्य में कुछ सड़ा गला है। वो सड़ांध और अप्रिय स्वभाव वाली वस्तुओं के वशीभूत है। ये शेक्सपीयर लगातार हमारी नजर में रखता है।

एक खलनायक दुष्ट पूंजीपति को और एक नायक मजदूर को दर्शाने की उतावली में हम दोनों को अविश्वसनीय बना देते हैं- एक को दानव जिसमें मानवीय गुण का एक रेशा भी नहीं और दूसरे को देवता जिसमें रत्ती माशा मानवीय कमजोरी भी नहीं। माओत्सेतुंग ने इन्हें तीलों और फूस का पुतला कहा था। मैं कबूलता हूं कि मैंने खुद कई दफा अपने नाटकों में ऐसे फूस के पुतले बनाए हैं।

लेकिन राजनैतिक नाटक उन नाटककारों से भी मुत्तफिक नहीं जो चरित्रों का अति सरलीकरण करते हैं, और मनोवैज्ञानिक जटिलताओं को पूर्णतया दरकिनार कर देते हैं। मनोवैज्ञानिक नाटक में हमें मानव दिमाग की हिंसा के चित्रण से ऐतराज नहीं, हमें ऐतराज है सामाजिक पृष्ठभूमि को नजरंदाज किए जाने से। एक खलनायक दुष्ट पूंजीपति को और एक नायक मजदूर को दर्शाने की उतावली में हम दोनों को अविश्वसनीय बना देते हैं- एक को दानव जिसमें मानवीय गुण का एक रेशा भी नहीं और दूसरे को देवता जिसमें रत्ती माशा मानवीय कमजोरी भी नहीं। माओत्सेतुंग ने इन्हें तीलों और फूस का पुतला कहा था। मैं कबूलता हूं कि मैंने खुद कई दफा अपने नाटकों में ऐसे फूस के पुतले बनाए हैं। मार्क्सवादी द्वंद्ववाद हमें ये समझने में मदद करता है कि प्रकृति में कुछ भी पूरा काला या सफेद नहीं होता। ऐसी कोई चीज नहीं जो कभी नहीं बदलती। एक न बदलने वाला नायक या खलनायक है।

पर हम समझते हैं हम ऐसी गलतियां क्यों करते हैं। क्योंकि हम संघर्ष में हैं, हम बहुत नफरत करते हैं, बहुत प्यार भी। पूंजीपति के प्रति हमारी नफरत की वजह से उसकी बुराइयों को हम बढ़ा-चढ़ा कर पेश करते हैं और मजदूरों के प्रति हमारे प्यार की वजह से हम उसकी निजी त्रुटियों को नजरंदाज करते हैं। आदमी की मार्क्सवादी परिभाषा जटिल है, और ये अति सरलीकरण की इजाजत नहीं देती। ग्रामशी ने मार्क्स की परिभाषा का सार यूं किया है कि आदमी बदलते सामाजिक संबंधों का इतिहास है। हर आदमी समूचे रिश्तों का इतिहास है- मालिक और गुलाम, सामंत और अर्धगुलाम, पूंजीपति और मजदूर, राजा और रियाया, पिता और पुत्र, समाज और व्यक्ति वगैरह-वगैरह। और ये रिश्ते बड़े नहीं, ये लगातार खुद को बदलते हैं। यही नहीं, जिस क्षण आदमी इनमें से किसी भी रिश्ते को पहचान लेता है। वो रिश्ता बदल जाता है, ये पहचानने की प्रक्रिया ही इस संबंध को एक नया आयाम देती है जो पहले नहीं था। उदाहरण के लिए सरकार और व्यक्ति के बीच संबंध। जैसे ही व्यक्ति इस संबंध को पहचानता है कि ये क्या है, कि ये वर्ग दबाव है राजसत्ता के माध्यम से, वो संबंध फिर पहले जैसा नहीं रह सकता; देशभक्ति, विश्वसनीयता, कर्तव्य तमाम पुरानी साज सज्जाएं बिखर जाती हैं। संबंध जारी रहता है अन्यथा व्यक्ति जेल में होगा। लेकिन अब ये गुणात्मक रूप में अलग संबंध है। व्यक्ति सरकार को कबूलता है क्योंकि ये उसे करना ही है वो उसकी तरफ मोहभंग नजरों से देखता है। सरकार और विश्वसनीय व्यक्ति का संबंध सरकार और गैर विश्वसनीय व्यक्ति के संबंध में तब्दील हो गया है।

मानव की मार्क्सवादी परिभाषा की जटिलता चरित्रों को फूस के पुतले बनाने के खिलाफ एक चेतावनी होनी चाहिए। ब्रेख्त जैसा महान नाटककार भी मानव के बारे में ऐसी जटिल समझ से कतराकर पीछे हट गया था और उसने ऐलान किया था कि मानव की ये परिभाषा सच्चाई का चरम है लेकिन इसे नाटक में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। इस जटिलता का नाटक के एक चरित्र में चित्रण नहीं किया जा सकता। इसलिए उसने कोशिश नहीं की अपितु मानव के अलग-अलग पहलुओं को अलग-अलग दृश्यों में दर्शाया है।

ज़िंदगी और रंगमंच के बीच
एक पतली रेखा है, बस...

रंगकर्मी *विभा मिश्रा* से कथाकार *कमल कुमार* की अंतरंग वार्ता

अभिनय और उसके बाद निर्देशन के क्षेत्र में संचित अनुभवों के बाद पूरे आत्मविश्वास से रंगमंच पर दाखिल हुई विभा मिश्रा अब इस दुनिया में नहीं है। लेकिन विभा होने के मायने अब भी उसकी यादों-बातों में महफूज हैं। भारत भवन की चार दीवारी से लेकर मुल्क के तमाम मंचों तक अपनी प्रतिभा का प्रकाश बिखेरने वाली विभा की बेचैनियों को, उसके भीतर बनते-सँवरते अनुभवों को, उसके रग-रेशों को छूती यह विरल वार्ता किसी हद तक नाटकों की दुनिया से जुड़े वक्ती हालातों से दो-चार होने का अवकाश भी है।

स्त्री की दी गई भूमिका और रंगमंच दो ध्रुव हैं, क्या यह सही है?

जिन्दगी हो या स्टेज, स्वतंत्रचेता स्त्रियों के लिए इनमें जगह ही नहीं है। रंगमंच के साथ मैं पिछले 26 वर्ष से जुड़ी रही हूँ इसलिए अपने अनुभव के आधार पर कहती हूँ कि जिन्दगी में जो औरतों के साथ होता है वही थियेटर में भी होता है। रंगमंच में भी उसे काफी हद तक वैसे ही निभाना होता है जैसे जीवन में, यानी दबकर, घुटकर अपनी आवाज को अपने भीतर दबाकर। एक सीमा तक तो औरत को बर्दाश्त कर लिया जाता है लेकिन जैसे ही वह अपना निर्णय लेने या देने लगती है समस्या खड़ी हो जाती है। समाज ऐसी औरतों को अच्छा नहीं समझता। रंगमंच में भी वही होता है। निर्देशक के इशारों पर नाचो तो ठीक है। जरा-सा इधर से उधर किसी स्त्री ने किया तो बर्दाश्त नहीं होता। 'रुकिए... तीन फुट आगे... साढ़े तीन फुट नहीं' यही आदेश होता है। जीवन में जैसे पुरुष का वर्चस्व है वैसे ही रंगमंच की दुनिया में भी है। सिर्फ निर्देशक ही न हीं, साथी कलाकार भी कई बार आपकी सफलता को बर्दाश्त नहीं करते। प्रतिद्वन्द्विता तो ठीक है परन्तु उच्छृंखल और उद्दण्ड व्यवहार भी होता है। लेकिन मैं इन सारी स्थितियों से परेशान तो होती हूँ परन्तु ये मेरे रास्ते में बाधा नहीं बनती। मैं अगले दिन पहले से भी बेहतर करने का प्रण लेती हूँ और करके भी दिखाती हूँ। कई बार अपने बचाव के तरीके भी सोच लेती हूँ। नाटक का एक दृश्य था जिसमें एक सह कलाकार ने मुझ पर एक लैम्प फेंक कर मारना था। रिहर्सल में मैंने अपने को बचाया था बच गई पर यह निश्चित था कि वह अगले दिन की रिहर्सल में फिर से वही दुहरा सकता है। मुझे चोट लग सकती है। मैं सुबह रिहर्सल से पहले मंच पर पहुँची, प्रेक्टिस की और अनुमान लगाया कि जब वह लैम्प फेंक कर मारेगा तो कौन-सी पोजीशन ठीक रहेगी कि चोट न लगे। हुआ भी वही, उसने सोच रखा था, लैम्प मारेगा

भारतभवन की अपनी एक राजनीति है। आपसे क्या कहूँ? लेकिन देखिए 1984 में मेरा अफेयर भी चल रहा था, साथ ही रंगमंच में कई नई चीजों के बीच थी। कारंत जी मेरे गुरु थे उनके साथ मैं अपने सारे कच्चे अनुभव बाँटती थी। उनसे सुझाव लिया करती थी। मेरे लिए वे फादर फिगर थे। मेरे पिता नहीं हैं, उनमें मैं कहीं इस क्षति की पूर्ति भी करती थी। उस दुर्घटना के साथ कितना कुछ नष्ट हुआ। मेरा अफेयर भी टूट गया। पर रंगमंच पर डटी रही।

ही। चोट लगेगी ही। वह सॉरी बोल देगा। आखिर ऐसे हादसे बिना इरादे के भी हो सकते हैं। दृश्य हुआ और मैंने भी उस दृश्य को बदल दिया और मैं बच गई।

यह ह्यूमन नेचर (मनुष्य की प्रकृति) है। नाराजगी भी होती है। कुछ लोग बदला भी लेते हैं। कलाकार खुद इन समस्याओं से उलझते और सुलझते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्टेज पर स्त्रियों को समझौता करना पड़ता है वैसे ही जैसे जीवन में वह समझौता करती हैं। साहित्य में भी इस परम्परा का ही निबाह है। शकुन्तला हो या मालविका, अग्निमित्र हो या फिर आधुनिक काल में लिखे आधे-अधूरे की सावित्री हो। औरतें कहाँ अपने पक्ष में निर्णय ले पाती हैं? जिन्दगी रंगमंच है और रंगमंच जिन्दगी है- दोनों के बीच में एक पतली-सी रेखा है बस। ग्रीक क्लासिक एंटीगनी में सोफक्लीज कहता है दुश्मन की लाश सड़े, यही उसके लिए जिन्दगी की खुशबू है। पर एंटीगनी इसके विरोध में खड़ी होती है और निर्णय लेती है कि लाश को दफन किया जाएगा। वह कहती है, मैं अपने भाई को दफनाकर आई हूँ।

एक और नाटक है कोकेनियन चॉक सर्कल, जिसका हिन्दी अनुवाद हुआ इंसाफ का घेरा और खड़िया का घेरा। इसमें नौकरानी ब्रूशा महत्वपूर्ण स्त्री पात्र है। हिन्दी अनुवाद में वह रैया है। दूसरे महायुद्ध में जब युद्ध की विभीषिका में सब भाग रहे हैं। कोखिशया का राडार नष्ट हो गया है। रानी का नवजात शिशु छूट जाता है। दुश्मन उसे ढूंढ रहे हैं और उसके कत्ल करना चाहते हैं। नौकरानी रैया उसे पालती है। उसे पालने के उस भावात्मक फैसले के लिए उसे क्या कुछ भुगतना आर्थिक स्तर, सामाजिक स्तर पर से चारों तरफ से उसे बाधाएँ घेर लेती हैं। इन दोनों पात्रों की भूमिका को रंगमंच पर मैंने निभाया। कहने का अर्थ यह है कि औरतें जीवन में जब अपने निर्णय लेती हैं तो उनको निभाने में कैसी-कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

साहित्य में स्त्री रचनाकारों ने अपने समय की और समय से आगे औरतों का चित्रण किया है पर रंगमंच पर ऐसा नहीं हो पाया। क्यों?

आप सही कह रही हैं। सिर्फ भारत ही नहीं, एशियाई साहित्य में स्त्रियों ने बड़ा मुखर साहित्य रचा है। पाकिस्तान की तहमीना दौरानी, बंगाल की तस्लीमा नसरीन, हिन्दी में मंजुल भगत की गुल दोपहरिया कहानी मुझे याद आ रही है। दूसरी कहानीकारों ने भी यथार्थ स्त्री पात्रों की रचना की। परन्तु ऐसी कहानियों और पात्रों को स्टेज पर लाना मुश्किल हो जाता है। समाज के दर्शकों के लिए देखना मुश्किल हो जाता है। स्टेज पर, साहित्य में या जीवन में स्त्री समाज के संभ्रान्तजनों के चेहरों से मुखौटे उतारे ये किसी को बर्दाश्त नहीं होता।

पर ऐसा क्यों? नयी सोच के लोग क्यों आगे नहीं आते? थियेटर में और साहित्य में जो एक रिश्ता बनना चाहिए था क्या वह बन सका?

भारतेन्दु और प्रसाद जैसे नाटककार थे जिन्होंने नाटक लिखे और रंगमंच से जुड़े भी। अब ऐसे नाटककार कम ही हैं। पाश्चात्य रंगमंच में और साहित्य में सामाजिक परिवर्तनों के साथ परिवर्तन आया है। हमारे यहाँ भी परिवर्तन हो रहा है पर धीमी गति से। कारण यह भी है कि रंगमंच में एक व्यक्ति नहीं, समूह होता है। साहित्य जबकि व्यक्ति-केन्द्रित रचना होती। ग्रुप में समझौता करना पड़ता है। निर्देशक चाहता है चार नए पात्र लें, अभिनेता आपत्ति करते हैं। फिर दर्शकों की प्रतिक्रिया का भी ध्यान रखा जाता है। तो भी प्रयोग तो हुए हैं। संतोष चौबे की तीन कहानियों - राग केदार, उनके हिस्से का प्रेम, बीच प्रेम में गांधी को एक साथ जोड़कर सुबह दोपहर शाम में मैंने दिखाया। इसमें मैंने खजुराहो की पेंटिंग्स का इस्तेमाल किया। लेकिन मेरी कैसी आलोचना हुई। मुझ पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया। इसी को रामगोपाल बजाज कर्नाटक में, बेंगलूर, मैसूर ले गए और चंडीगढ़ लेकर गए। वहाँ उनका प्रदर्शन हुआ। इन पर बहुत अच्छी प्रतिक्रिया भी दर्शकों से मिली। लेकिन आनंदगुप्त ने इसे पोनोग्राफी कहा। परन्तु मैं भयभीत नहीं हुई। मैंने भी कहा, 'यह आप पर है आप इसे कैसे लेते हैं।' कहा गया, अब रंगमंच भी बोल्ड हो गया है। जेएनयू के छात्र दर्शक आते हैं इसलिए भी इस पर आपत्ति हुई। जैन मन्दिरों में जैनेश्वरी स्वयंसिद्धा, राजुला, रानी चेलना और मैना सुन्दरी की कहानियों का मैंने मंचन किया। ये तीन चरित्र ही बाद में जैन धर्म की महत्वपूर्ण देवियाँ बनती हैं। रंगमंच पर मेरे ये प्रयोग चुनौती भरे रहे हैं। एक बार और भी है, रंगमंच के क्षेत्र में भी जिन औरतों को उनके पति और बच्चों का सहयोग है उनकी स्थिति दूसरी औरतों से अच्छी हो जाती है। मैंने रंगमंच पर नारीवाद की बात नहीं की है, स्त्री की अस्मिता की बात की है। उसका भी व्यावहारिक पक्ष लिया है। समाज की तरह रंगमंच पर भी परिवार के बीच ही औरत की स्वीकृति है। पति चाहे कुत्ता ही क्यों न हो।

मैंने अपने आस-पास इतना पाखण्ड देखा कि क्या कहूँ? जितना बड़ा अभिनेता या कलाकार उतना ही पाखण्ड। मुझे इससे बड़ी चिढ़ होती है। मन खिन्न हो जाता है। मैं झूठ में, पाखण्ड में विश्वास नहीं करती। लेकिन यह भी कहती हूँ कि किसी की जान बचाने के लिए झूठ भी बोला है। यह भी थियेटर से सीखा। 'मदर करेज़' नाटक में माँ अपने बेटों को नहीं पहचानती वह जानती है कि वह अपने बेटे को पहचानेगी तो उसकी हत्या कर दी जाएगी।

विभा, तुम्हारी जैसी स्त्री ही तो चुनौती को स्वीकारती है।

मैंने चुनौतियों को स्वीकारा है। बाधाओं के बीच से ही रास्ता बनाया है। मैं बड़े ही रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार से हूँ। हमारे घर में जमींदारी है और यहाँ औरतों का जीवन तहमीना दौरानी की औरतों से शायद की कुछ बेहतर हो। मैं रंगमंच से 26 साल पहले जुड़ी थी। उस समय में मैंने परिवार की सारी रूढ़ियों को तोड़ा था तभी रंगमंच में आई थी। मेरे साथ 1986 में एक दुर्घटना हुई, उससे भी उबर कर आई हूँ। उस समय मीडिया ने जो कुछ किया वह बहुत ही त्रासद था। मीडिया के कारण मुझे बहुत सहना पड़ा पर मेरी पीड़ा मेरी शक्ति बनी। मैंने भी निर्णय किया कि जीवन के सच से भागूँगी नहीं और मैंने भोपाल से ही जीरो के साथ अपनी यात्रा शुरू की। कारंत जी बहुत ही अच्छे, आत्मीय पर प्रोफेशनल इन्सान थे। उनसे मैंने रंगमंच का बहुत कुछ सीखा। यदि यूँ कहा जाए जो सीखा उन्हीं से सीखा तो भी यह बड़ी बात नहीं। रंगमंच में कविता को, संगीत को, साहित्य की रचनात्मकता को कैसे समन्वित किया जाता है, यह कारंत जी ने ही सिखाया था। आधुनिक रंगमंच में उनका बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। भारतभवन की अपनी एक राजनीति है। आपसे क्या कहूँ। लेकिन देखिए 1984 में मेरा अफेयर भी चल रहा था, साथ ही रंगमंच में कई नई चीजों के बीच थी। कारंत जी मेरे गुरु थे उनके साथ मैं अपने सारे कच्चे अनुभव बाँटती थी। उनसे सुझाव लिया करती थी। मेरे लिए वे फादर फिगर थे। मेरे पिता नहीं हैं, उनमें मैं कहीं इस क्षति की पूर्ति भी करती थी। उस दुर्घटना के साथ कितना कुछ नष्ट हुआ। मेरा अफेयर भी टूट गया। पर रंगमंच में डटी रही। दूसरे निर्देशकों के साथ भी मेरे समीकरण अच्छे थे। सन् 1992 में फेस्टीवल ऑफ फ्रांस इन इंडिया भोपाल में हुआ। जॉर्ज लालावादो ने यहाँ की रैपटरी को चुना। उस समय हमारा रंगमंडल और उसकी गतिविधियाँ अपने उत्कर्ष पर थीं। 17वीं शताब्दी का नाटक 'फैद्रा' खेला गया था जिसमें थीयूसिस जो एक शक्तिशाली निरंकुश राजा था। राज्यों को जीतता और वहाँ की लड़कियों को ले जाता। युद्ध में फैडरा के पति राजा के मारे जाने की सूचना मिलती है। फैडरा का विवाह उसके सौतेले लड़के से कर दिया जाता है। बाद में पता चलता है राजा जीवित है और रानी जहर खा लेती है। इस नाटक का हिन्दी अनुवाद कृष्ण बलदेव वैद ने किया था। 17वीं शताब्दी के इस लीजैंडरी नाटक में 'फैद्रा' की भूमिका मैंने निभाई थी। शायद उसी के आधार पर मुझे फ्रांस में एक वर्ष की फैलोशिप मिली थी जहाँ मैं खूब घूमी हूँ। यूरोप के देशों में गई हूँ। उनके रंगमंच को जानने-समझने की कोशिश भी की है।

विभा जी, रंगमंच में स्त्री होने के संघर्ष की आपने बात की है लेकिन व्यक्तिगत स्तर पर भी आपने संघर्ष किया है।

थियेटर में जैसे नये प्रयोग किये जाते हैं जो चुनौती होते हैं, वैसे ही औरत का संघर्ष वहीं शुरू हो जाता है जहाँ वह घर से कदम बाहर रखती है। फिर थियेटर तो पूरे समय और शक्ति की माँग करता है। औरत घर से बाहर लम्बे समय तक, जिस-तिस के साथ काम करे ये परिवार में कहाँ पसन्द किया जा सकता है। औरत एक बार घर से बाहर पैर निकालती है तो वापस लौटना कितना मुश्किल होता है- 'डार से बिछुड़ी' पढ़ लीजिए। यदि औरत निर्देशक हो तो उसका संघर्ष और भी बढ़ जाता है। मैंने निर्देशन भी किया है। भावात्मक संघर्ष के साथ प्रोफेशनल संघर्ष भी किया है। परन्तु मेरे भीतर एक जिद्दी भाव है जो मुझे जीवन्तता देता है। मुझे इनोवेटिव बनाता है। इसलिए मेरा संघर्ष रुकता नहीं है। आप अभी विभा जोशी से मिली थी, इंडियन क्लासिकल ड्रामा और अस्थैटिक्स पढ़ाती थी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली में। पर वे कहीं भी एडजस्ट नहीं कर सकी। उन्होंने पति से तलाक लिया, अकेले रहने का फैसला लिया लेकिन आज उनके मन में इस बात का गहरा प्रायश्चित है। इसका एक कारण और भी है जो बहुत महत्वपूर्ण है वह है- थियेटर के बल पर कोई सर्वाइव नहीं कर सकता। आप देखिए प्राइवेट रेपटरी में अभिनेता को तीन हजार रुपये दिए जाते हैं। इसलिए रंगमंच को प्रशिक्षण क्षेत्र की तरह इस्तेमाल करके कलाकार टीवी सीरियल की ओर भागता है। रंगमंच के हमारे वरिष्ठ कलाकार भी इसके लिए जिम्मेदार हैं। उन्होंने रैपटरियों को तोड़ा ह। बनाया नहीं है। इसीलिए अभिनेता खत्म हो रहे हैं। पर कुछ लोग हैं जिनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। नसीरुद्दीन शाह, अनुपम खेर, राज बब्बर, आशुतोष राणा, मनोज वाजपेयी इत्यादि। अब स्थिति यह है कि रैपटरियाँ खत्म होंगी और अभिनेता भी खत्म ही होंगे। मनोहर सिंह बम्बई चले गए और उनके जाने के साथ कितने अभिनेता खत्म हुए। उनका जाना अकेले अभिनेता का जाना नहीं था। फिर नए अभिनेता कहाँ आ रहे हैं। वे जाना चाहते हैं, टीवी सीरियल में और फिल्मों में। मध्यप्रदेश रंगमंडल, बन्द हुआ, रैपटरी बन्द हुई, वे ही अभिनेता सरवाइव कर सके जिनकी पत्नियाँ या पति कहीं कुछ काम करके घर चला सकते थे। अर्थात् जिनका कोई दूसरा आर्थिक आधार था। मैं अभिनेत्री ही बने रहना चाहती थी परन्तु मुझे लगा निर्देशक बनना जरूरी है। निर्देशक के रूप में फिर भी कलाकार की कुछ आवाज होती है। उसकी आवाज सुनी जाती है। उन्हें बाहर टूर पर जाने का अवसर भी मिलता है। अब सर्वाइवल के लिए स्क्रिप्ट लिखना, नौकरी करना या निर्देशन करना जरूरी है। चुनाव बहुत मुश्किल होता है। गरीबी झेलने के सिवा कुछ कलाकार तो दूसरा कुछ कर भी नहीं पाते। मुझे सचमुच थियेटर से प्यार है। थियेटर का विंग एरिया स्टेज पर आने से पहले का समय कितना महत्वपूर्ण होता है आपको बताती हूँ। मैंने बरसों 'तीसरी कसम' फिल्म नहीं देखी। क्योंकि मैं उसमें अपने

को प्रसोनीफाई करती थी। मन में इच्छा थी कि यह फिल्म वासुदा के साथ देखूँगी और मैंने देखी भी। देखिए आप, जीवन में प्यार नहीं मिलता, पर थियेटर में प्यार का वास्तविक अभिनय करना होता है। इससे बड़ा भावात्मक द्वन्द्व क्या होगा? संघर्ष क्या होगा?

विभा क्या तुम अपने को आधुनिक औरत मानती हो?

नहीं, सच मैं बड़ी ही परम्परावादी व्यक्ति हूँ। पर तो भी मैं रंगमंच पर आई और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ा। अपने भीतर के अनुशासन से और एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्थितियों को देखती हूँ मैं। औरत के लिए दिए गए 'डू और डू नॉट' हमारे भीतर का संस्कार, बन जाते हैं। नैतिकता के संस्कार तो रिश्तों में भी जरूरी होते हैं। और मैं इस नैतिकता को निभाती भी हूँ। लेकिन आपसे सच कहूँ, मैंने अपने आस-पास इतना पाखण्ड देखा कि क्या कहूँ। जितना बड़ा अभिनेता या कलाकार उतना ही पाखण्डभरा उसका जीवन। मुझे इससे बड़ी चिढ़ होती है। मन खिन्न हो जाता है। मैं झूठ में, पाखण्ड में विश्वास नहीं करती। लेकिन यह भी कहती हूँ कि किसी की जान बचाने के लिए झूठ भी बोला है। यह भी थियेटर से सीखा। 'मदर करेज' नाटक में माँ अपने बेटों को नहीं पहचानती क्योंकि वह जानती है कि वह अपने बेटे को पहचानेगी तो उसकी हत्या कर दी जाएगी। कारंत जी के साथ, उस दुर्घटना के बाद मैंने कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे बचाया था। उस समय भी लोग मेरा सम्मान करते थे और पचास चिट्ठियाँ रोज आती थीं। कारंत जी ने मीडिया वालों से कहा था अपने इंटरव्यू में 'हाँ, मैं विभा को चाहता हूँ' यह हादसे के बाद की बात है। कारंत जी एक पूर्ण व्यक्ति थे। निर्भय अपने कलाकारों से जुड़े थे। कभी बाहर जाते तो किसी के लिए साड़ी लाते, किसी के लिए लिपिस्टिक तो किसी के लिए कोई दूसरा उपहार। हम सब सदभाव से अपनी भावनाएँ शेयर किया करते थे। साथ ही उतने ही प्रोफेशनलस्तर पर उनसे जुड़े हुए थे। कारंत जी में सहजता और स्पष्टता थी। उनका निर्देशन और सुझाव हमारे लिए बहुत कीमती होते थे। कारंत जी की पत्नी प्रेमा नाट्य विद्यालय के साथ थीं। उत्तरा, सुरेखा के बैच की ही थीं। मेरे मन में कारंत जी की छवि एक सक्षम कलाकार और एक बहुत अच्छे इन्सान की छवि थी। जिसको मैंने और दूसरे कलाकारों ने उनके साथ जिया भी। परन्तु मीडिया ने जो किया वह दुःखद है। क्या कहूँ मीडिया एक तरह की वेश्यावृत्ति है जो अपने हित में लोगों का, घटनाओं का, हादसों का और स्थितियों का उपयोग करते हैं। इस सच को जब मैंने जाना तो मैंने मीडिया का उपयोग करना सीखा। हुआ यह कि मेरा छींकना भी उनके लिए खबर बन जाता है। यह भी सीखा कि काम निकाल कर उनको ठोकर मारो।

थियेटर के लोगों ने आपका साथ नहीं दिया था?

थियेटर वाले और भी बेचारे हैं। इतने सक्षम नहीं कि दूसरों को संरक्षण दे सकें। मीडिया, अभिव्यक्ति की बात करता है पर छापता सब नेगेटिव ही है क्योंकि वह बिकाऊ होता है। पर तो भी थियेटर में कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनमें साहस होता है। भीतर ईमानदारी होती है। इब्राहिम अलका जी आते थे यहाँ। उन्होंने अशोक वाजपेयी को एक चिट्ठी लिखी थी जिसमें मेरे बारे में भी लिखा था। मैंने एक प्ले किया था 'हाउस ऑफ बनार्डा एलवा'। इसका हिन्दी अनुवाद रघुवीर सहाय ने किया था। इस नाटक में बीस-बाईस लड़कियाँ चाहिए थीं। उस समय हवा थी कि लड़कियाँ थियेटर में नहीं जाएंगी। पर आई। मैंने नाटक किया। यहाँ लोगों की मानसिकता कस्बे की मानसिकता है।

विभा जी, इतने वर्षों तक थियेटर से जुड़ी रहीं आप। आपने निर्देशन, अभिनय इत्यादि सभी स्तरों पर काम भी किया। आप अपनी उपलब्धि क्या मानती हैं?

देखिए, मैं थियेटर के साथ हूँ, सारी बाधाओं के बाद भी। गर्व के साथ कहती हूँ, आई लव थियेटर। आज यहाँ मेरा सम्मान है। यूँ तो हर किसी कलाकार को यह लगता ही है कि उसका श्रेय उसे नहीं मिला। पर मेरी सोच अलग है, मैं मानती हूँ जीवन में जो भी मिले उसे स्वीकारो। मुझे घातक बीमारियाँ मिलीं हिपोटाइटस-सी से यातना सही पर वहीं मुझे अच्छा डॉक्टर भी मिला जिसने मेरा ध्यान रखा। मुझे भोपाल में तो मेरे बचने की भी उम्मीद नहीं थी। मैं दिल्ली गई थी। डॉक्टर सरीन ने चेताया था पर कहा था कि अगर आप मेरे साथ सहयोग देंगी, अनुशासन में रहोगी तो जरूर ठीक हो जाएंगी। और मैं ठीक हुई भी। अनुशासन और सहयोग देना मैंने थियेटर से ही सीखा था। जीवन भी तो रंगमंच ही है न। समय और जिन्दगी को जीने का ढंग सब का अपना होता है और मेरा भी अपना ढंग है। वहाँ अस्पताल में जब बिस्तर पर पड़े नहीं रहना चाहती थी तो जाकर नर्सों के साथ काम किया करती थी। बाहर निकलकर अस्पताल में घूम-घूमकर देखा करती थी, लोगों की सफरिंग को। लगता था मैं अकेली तो नहीं हूँ। डॉक्टर मना करते थे पर मैं सारे टेस्ट करवाने के लिए खुद चलकर जाया करती थी। जीवन कुरुक्षेत्र है। इसमें भागने पर भी मर सकते हैं इसलिए लड़ना ही है। मरना भी है तो लड़कर ही मरना है। दोनों तरह के लोग हैं जो मुझे गालियाँ देते हैं और दूसरे जो अपने स्नेह से और प्रार्थना से मुझे ठीक होने की शुभकामनाएँ देते थे।

आज की कलाकार पीढ़ी के लिए और रंगमंच के लिए क्या कहना चाहेंगी?

जैसा आपसे कहा था, आज की पीढ़ी रंगमंच का चुनाव करना चाहती है। रंगमंच को वह ऊपर जाने के लिए (फिल्मों में या टीवी पर) सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करती है। वे दो-चार नाटकों में काम करती हैं और टीवी सीरियल या फिल्मों में चली जाती हैं। कारण यह भी है, थियेटर आर्थिक सुरक्षा भी तो नहीं देता।

आप थियेटर के भविष्य को लेकर चिन्तित हैं?

तो भी थियेटर रहेगा ही। इसका रूप बदल जाए पर इसका अस्तित्व रहेगा। टीवी पर जो इतने सारे इंडियन क्लासिकल संगीत के चैनल गुरु हुए वह थियेटर की ही वजह से हुए। कारण टीवी का पेट बहुत बड़ा है उसे तो भरा ही जाना है। रंगमंच भी अपना स्थान टीवी पर बनाता ही है। जबकि उसकी जीवंतता लाइव परफार्मेंस में रंगमंच पर ही होती है।

अभिनेता का अंतरंग

डायरी/संजय मेहता

हिन्दी रंगमंच पर अपनी रचनात्मक मेधा और कल्पनाशील प्रयोगों के ज़रिए नई पहचान बनाने वाले संजय मेहता ने अपने अनुशासन को एक आध्यात्मिक दृष्टि दी है। रंगमंडल भारत भवन में ब.व. कारंत जैसे अप्रतिम रंगकर्मी से नाट्य कला की सीखें लेकर संजय ने स्वयं को एक समग्र कलाकार के बतौर गढ़ने का उत्साह दिखाया है। मध्यभारत में कहानी और कविता के मंचन की गंभीर पहल उन्होंने जारी रखी है। बुनियादी तौर पर संजय अभिनेता हैं इसीलिए उनके निर्देशन में भी अभिनय शैली की आँच बाकायदा महसूस की जा सकती है। 'रंग संवाद' में वे अपनी डायरी के वे नोट्स साझा कर रहे हैं जिनमें एक अभिनेता का अंतरंग कई नई लकीरें खींचता दिखाई देता है।

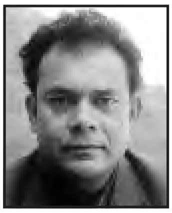

हम शब्दों को छोटा करते/भावों को भी छोटा कर रहे हैं/न जाने ये कैसा सौदा है/हम किससे कर रहे हैं?

•

मैंने ब्रेख्त, भरतमुनि और स्टेनस लावास्की को पढ़कर अपनी बुद्धि से समझा और यही महसूस किया कि अभिनय सबसे कठिन चीज है और सरल भी, ठीक जीवन की तरह जिसे सीखना नहीं, जीना पड़ता है।

•

जब आस्था टूटती है तो 'अंधायुग' याद आता है। जब परेशान होता हूँ तो नाटक के गीत गाता हूँ। गुस्से में लीयर बुदबुदाता हूँ 'स्कंदगुप्त' याद कर दार्शनिक हो जाता हूँ, पर खुद को कभी-कभी बहुत निरीह पाता हूँ, चेखव का क्लर्क हो जाता हूँ।

•

मैंने सोचा कि अभिनेता को औजार होना चाहिए एक बन्दूक की सतह कि गोली ठीक निशाने पर बैठे पर गोली हर बार एक ही स्पीड से लगती है, पर यहाँ गति बदली होती है नदी की तरह तो औजार ऐसा जो स्पर्श को पहचान ले। बर्तन की तरह हर चीज को अपने में ढाल ले तभी वो पार लगायेगा सच्चा मल्लाह कहायेगा।

•

मैं शब्दों को कैसे जिन्दा करूँ/इसी धुन में लगा रहता हूँ/मैं चरित्र कैसे बनूँ/इसी में जुटा रहता हूँ/बार-बार खुद को बदलने/की ख्वाहिश में/खुद को खोजता हूँ/कभी खुद को भूलता हूँ पाने के लिए/कभी पा कर खुद को भूल/जाता हूँ।

•

मैं दर्शकों के दिल और दिमाग में/घुसने की ख्वाहिश रखता हूँ।/चाहता हूँ कि वो मेरे साथ हँसे/मेरे साथ रोयें।/सब कुछ एक हो जाए/खेल, खेल दिखाने वाला/खेल देखने वाला/रंग-भेद गायब हो जाए/मंच का जादू सर चढ़ जाए।

•

मैं कहाना। कविता, उपन्यास में/अभिनय खोजता हूँ।/चरित्रों के सपने/दिन में देखता हूँ/कभी अश्वत्थामा बनने का जुनून/कभी तुगलक बनने का ख्याल।/सड़क पर आकर वापस/मैं हो जाता हूँ।

•

बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और/पागलों की विस्मृति मुझे एकसाथ चाहिए।/ये माँग-जयशंकर प्रसाद के स्कंदगुप्त की ही नहीं/वरन अभिनेता की भी होती है/ताकि वो अपने लक्ष्य तक पहुंच सके/इसलिए अभिनय एक ऐसी तलाश या खोज है/जो कभी खत्म नहीं होती।

•

सब कुछ पीछे छूट रहा है/अभिनय की इस यात्रा में/धीरे-धीरे हलका हो दौड़ लगाऊँगा कल्पना के पंख लगा/उड़ जाऊँगा।/तैरता हुआ/आकाश, पाताल/सब जगह जाऊँगा/अपने होने का अर्थ/तभी खोज पाऊँगा।

•

बरसों से सुन रहा हूँ- हिन्दी थियेटर में दर्शकों की कमी है। नाटकों की कमी है, बतौर अभिनेता हिन्दी रंगमंच में जिन्दा रहना बहुत मुश्किल है आदि-आदि। ये मंथन का प्रश्न है कि आज तक ऐसा क्यों है? मैं जब सोचना शुरू करता हूँ तो कुछ बातें सामने आती हैं- 1. क्या हिन्दी में बहुत ज्यादा

प्रयोग हुए इसलिए? 2. प्रयोग होने के कारण तकनीक और अभिनय पर कम ध्यान दिया गया इसलिए? 3. दर्शकों को तबज्जो दिए बिना प्रयोग किये गये। 4. आजादी के इतने बरस बाद भी तहसील और जिला स्तर पर रंगशाला न होने के कारण? 5. या सिर्फ कुछ शहरों में थियेटर होता रहा इसलिए? 6. या रंगमंच की दिशा भटकी इसलिए? 7. हिन्दी के लेखकों को सम्मान नहीं मिला? 8. रंगमंच को शिक्षा में शामिल नहीं किया गया इसलिए?

सवाल और भी हो सकते हैं, सभी को खोजकर उत्तर तलाशना होगा और उस जवाब में शायद कोई राह दिखाई दे।

●

मैं हर बार ये सोचता हूँ कि बतौर अभिनेता/हर चरित्र को करने की ख्वाहिश/और हर दिन प्रस्तुति हो/ऐसी इच्छा क्यों होती है।

क्या मैं जो हूँ और मेरा जो जीवन है/उससे भागता हूँ?/या नाटक की दुनिया का जादू ज्यादा/प्रभावशाली है वास्तविक जीवन से/या जीवन को हम बहुत ही तकनीकी/ढंग से जी रहे हैं। या नाटकों से हम जीना सीख रहे/हैं जो जीवन में भूल गये हैं।

●

जब हम चरित्र का विश्लेषण कर रहे होते हैं तब हम सजग होते हैं और कारण खोजते हैं कि ये चरित्र ऐसा क्यों करता है? इसकी पढ़ाई-लिखाई क्या है? इसका पहले का इतिहास क्या है? इसकी आर्थिक स्थिति क्या है? आदि-आदि। पर जब हम स्वयं जीवन में किसी स्थिति में फँसते हैं तो हम देखते हैं कि हमारे व्यवहार का कारण वो सब नहीं होता जो हम एक चरित्र विश्लेषण के समय ढूँढ़ते हैं। इससे एक ही चीज लगती है कि कुछ आवेग घटनावश अचानक ही उत्पन्न होते हैं। इनके लिए पिछली पृष्ठभूमि जिम्मेदार नहीं होती और नहीं कोई मनोवैज्ञानिक कारण। उदाहरण के लिए अगर हम सेक्स की बात करें इसके लिए अच्छे या बुरे संस्कारों का कोई फर्क नहीं पड़ता।

●

ये प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठता है जब एक अभिनेता एक चरित्र करता है। उसकी अच्छाइयों-बुराइयों को समझता है, तब अभिनेता पर भी कुछ न कुछ असर होना चाहिए कम से कम अच्छाइयों का। यदि ये नहीं होता तो कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ है क्योंकि जब हम चरित्र को जीने की बात करते हैं या उसे आत्मसात करते हैं तो इसका कुछ प्रभाव अभिनेता पर आना लाजिमी है तभी अभिनेता में बदलाव सम्भव है और उसके माध्यम से दर्शकों में या समाज में। नहीं तो अभिनेता उस कम्प्यूटर की तरह है जिसमें कोई भी सी.डी. डालो वही दिखता है और बाद में वैसा का वैसा।

●

अभिनेता क्या है? क्या वो नाट्य प्रस्तुति तक अभिनेता रहता है और चरित्र निर्वाह के बाद चरित्र और वो अभिनेता गायब हो जाता है। या अभिनेता एक साफ समझ आवेगों का जानकार और निरन्तर परिष्कृत होने वाला होता है। मतलब एक व्यक्ति में अभिनेता पैदा होना उस व्यक्ति की समाप्ति है या उसका नया जन्म!

अभिनेता क्या है? क्या वो नाट्य प्रस्तुति तक अभिनेता रहता है और चरित्र निर्वाह के बाद चरित्र और वो अभिनेता गायब हो जाता है। या अभिनेता एक साफ समझ आवेगों का जानकार और निरन्तर परिष्कृत होने वाला होता है।

●

शो खत्म होने के बाद तालियों की गड़गड़ाहट और ग्रीन रूम के बाहर दर्शकों की प्रशंसा का इंतजार अभिनेता को होता है। पर मुझे लगता है इनके पार जाने के बाद अभिनय का रास्ता खुलता है। इसका मतलब ये भी नहीं कि आप उन तालियों का या प्रशंसा का अपमान कर रहे हैं बल्कि इसे तटस्थ भाव से लेने की जरूरत है। जब आप ईश्वर की आराधना करते हैं, किसी से सच्चा प्रेम करते हैं या डूबते हुए को बचाते हैं तब अंदर एक शान्ति छा जाती है। आप अंदर से भर जाते हैं। अभिनय में भी जब ये भाव पैदा होने लगता है, तब आप तालियों की गड़गड़ाहट और प्रशंसा से परे चले जाते हैं।

●

किसी ने कहा है रंगमंच एक मंदिर है, अभिनेता उसका पुजारी और दर्शक भक्तगण। इस पर विचार करने की जरूरत है। मंदिर वो स्थान है- जहाँ भक्त आदर और श्रद्धा के भाव से जाता है और कहता है— प्रभु आप तो मेरे बारे में सब जानते हैं। मुझे उबारो, मुझे शक्ति दो, बुद्धि दो, ज्ञान दो।

वो वहाँ रोता भी है, हँसता भी है, बात भी करता है।

क्या हम रंगमंच को ऐसी जगह बना पाये हैं? जहाँ हम दर्शक को उबार पाएँ। उसे शक्ति दे सकें, ज्ञान दे सकें, उसे रुला सकें, हँसा सकें। ये करेगा कौन? अभिनेता! जो पुजारी के समान और कथ्य या नाटक उसका देवता है जिसकी पूरी तल्लीनता से अभिनेता को आराधना करनी होगी और आराधना करने के लिए अभिनेता को अपने आपको साधना होगा और निर्मल मन, वाणी और मस्तिष्क तैयार करना होगा, तभी उसकी पूजा सफल होगी और दर्शकों को वो सब प्राप्त हो सकेगा जो भक्त को मंदिर में मिलता है।

●

कुछ घण्टों में एक खेल खड़ा होता है/और मिट जाता है।/एक जादू सा/सब कुछ अंधेरे में गायब/हो जाता है/एक बिजली/स्मृति में कौंधती रहती है सबके/प्रकाश बनने के इंतजार में/ऐसा प्रकाश/जो दूध सा हो।

●

बुद्ध ने तो रास्ता पा लिया/एक पेड़ के नीचे/मुझे अभी वो पेड़ तलाशना है/जिसकी छाँव से/मैं छाया देना सीख सकूँ/आँखें बंद करूँ तो/मेरा अभिमान/फल लदे पेड़ के नीचे/तुच्छ हो/कोयल की तान/मुझमें तरलता भर दे/चिड़ियों के घोंसले/तिनकों की अहमियत बता दें/मैं ऐसे पेड़ की तलाश में हूँ/जो मुझे पेड़ बना दे।

●

मुझे अभी तक ऐसा आदमी नहीं मिला, जिसे अपनी प्रशंसा दूसरों की बुराई सुनना नापसन्द हो। इसमें मैं खुद को भी शामिल करता हूँ। जबकि हम जानते हैं कि प्रशंसा और बुराई सुनने का ये भाव, जो हम खुद हैं उससे हटाता है। इसे हमें समझना होगा कि हम वास्तविकता से एक अलग धरातल पर जी रहे होते हैं। जो एक भ्रम है और जो जीवन में घटित होता है। तो क्या हम लगातार जीवन में अभिनय कर रहे होते हैं तो क्या? हमें जीवन में सामान्य होने की कोशिश करनी चाहिए। रंगमंच में इसका विपरीत है। यहाँ पर हम जो चरित्र कर रहे होते हैं, हमारी कोशिश रहती है कि वो अपने समय में घटित हो या वास्तविक लगे। यहाँ पर भी हम भ्रम पैदा करते हैं। अगर हम सुबह से रात तक अपनी गतिविधियों को देखें, तो हमें पता लगेगा कि हम सामान्य कितना कम रहते हैं। अतिरेक का भाव ज्यादा।

●

एक अभिनेता को अपनी साँस पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। साँस पर ध्यान देने का मतलब साँस को महसूस करना, वो कैसे अंदर आ रही है और बाहर जा रही है। साथ ही ये भी देखना चाहिए कि उसके अंदर आने और बाहर जाने का समय कितना है, इसे बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिए। इस प्रयोग को करने से अभिनेता की एकाग्रता बढ़ती है, धैर्य आता है। जो एक अभिनेता के लिए निहायत जरूरी चीज़ है।

इसे दूसरी तरह से भी देख सकते हैं. जितने भी भाव हैं चाहे वो क्रोध हो, उल्लास हो, डर हो सब में साँस की गति बदलती है, जो साँस को जाने-समझे बिना सम्भव नहीं है।

ध्यान से सुनना, ध्यान से देखना, ध्यान से बोलना अभिनय के ये तीन सूत्र हैं। जो जीवन में भी जरूरी हैं। इनका वर्तमान समय में अभाव है जिसके कारण अभिनय में भी नकलीपन आ गया है।

●

एक अभिनेता को एक गर्भवती माँ की तरह होना चाहिए। गर्भ धारण के बाद वो अपने बच्चे की देखभाल कैसे करती है? वो स्वास्थ्य के लिए अच्छा खाना खाती है, अच्छा सोचती है, पवित्र वातावरण में रहने की कोशिश करती है। सम्भलकर चलती है। मन में उठने वाले द्वन्द्वों को सहती है और प्रसव की पीड़ा को सहते हुए एक बच्चे को जन्म देती है। जो सबका प्यारा है, भोला है, दुनियादारी से परे है। अभिनेता के लिए उसका चरित्र भी एक बच्चा है, जिसे उसे धारण करके जन्म देना होता है।

क्या हम रंगमंच को ऐसी जगह बना पाये हैं जहाँ हम दर्शक को उबार पाएँ। उसे शक्ति दे सकें, ज्ञान दे सकें, उसे रुला सकें, हँसा सकें? ये करेगा कौन? अभिनेता! जो पुजारी के समान है और कथ्य या नाटक उसका देवता है जिसकी पूरी तल्लीनता से अभिनेता को आराधना करनी होगी।

एना की तमन्ना

पिता की विरासत सँजोना चाहती है तनवीर की विदेशी बेटी

आशा सिंह

हबीब तनवीर की वसीयत में भले ही उनकी दूसरी बेटी एना को कोई हिस्सा न मिला हो, लेकिन वह अपने स्वर्गीय पिता के पद चिन्हों पर चलना चाहती हैं। एना की दिली तमन्ना है कि वह हबीबजी की विरासत को सहेजे और उनके काम का वीडियो और ऑडियो डाक्यूमेंटेशन करें ताकि आने वाली पीढ़ी इस अद्भुत काम से अपरिचित न रह जाए। आयरिश माँ जिल मैकडोनाल्ड और भारतीय पिता हबीब तनवीर की यह बेटी अपने पिता की वसीयत के परिजनों के बीच सार्वजनिक किए जाने के मौके पर भोपाल आई। सुश्री तनवीर ने बताया- 'हालांकि वसीयत के मुताबिक मुझे ना तो कोई हक मिला और ना ही उत्तरदायित्व मगर मैं उनकी विरासत को सहेजना चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ कि उनके काम और उनके नाटकों का दस्तावेजीकरण हो और इसकी जिम्मेदारी मुझे मिले, इसके लिए मैं कोशिश कर रही हूँ। मैं चाहती हूँ कि जो बहुमूल्य काम उन्होंने किया है वह उनके जाने के बाद नष्ट ना हो जाए बल्कि पूरी दुनिया की आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें जान सकें।'

आयरलैण्ड में पैदा हुई, इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड और भारत में पली-बढ़ी सुश्री तनवीर फिलहाल फ्रांस में अपने तीन बेटों के साथ रहती हैं। वे बताती हैं कि उनके पिता यूरोप प्रवास के दौरान उनकी माँ से मिले थे और उनकी माँ कुछ साल भारत आकर हबीब जी के साथ रही थीं। इसके अलावा चिट्ठियों से लगातार पचास सालों तक उन दोनों का संबंध जीवित रहा। जब पिता बीमार रहने लगे थे तो तीन साल पहले मेरी माँ उनसे मिलने भोपाल आई थीं।

सुश्री तनवीर अपने पिता से तब मिलीं जब वे नौ साल की थीं। आंध्रप्रदेश के ऋषि वैली बोर्डिंग स्कूल में पढ़ती थीं। उनकी माँ ने जानबूझ कर भारत के इस स्कूल में नौकरी की ताकि उनकी बेटी भारत को समझ सकें। पिता से मिलने से पहले एना तनवीर के बाल मन में एक परी कथा का नायक था, जो बड़ा सा पग्गड़ और ढीला पजामा पहने होगा मगर वो तो बड़े नफीस निकले। मगर उन्होंने एना को निराश नहीं किया बल्कि ढेरों कहानियाँ और गीत सुनाए।

सुश्री तनवीर ने बताया कि मेरे पिता के साथ मेरे बहुत खूबसूरत संबंध थे। वो मोनिका जी के देहांत के बाद काफी अकेले हो गए थे और अक्सर ही टॉरेन, फ्रांस मेरे पास रहने आया करते थे। जब उन्हें पता चला था कि उनके तीन नाती/नवासे हैं तो वे खुशी से फूले नहीं समाए। मैंने अपने बड़े बेटे का नाम 'मुक्ति' रखा है। असल में मैंने उनसे (हबीबजी) उनके सपनों को विरासत में पाया और वैसा ही जीवन जी रही हूँ जैसा वो चाहते थे।

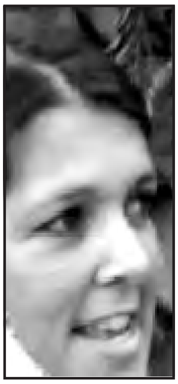

मैं जहाँ रहती हूँ वहाँ सब कुछ मैंने खुद बनाया है। लकड़ी का घर मैंने और बेटों ने मिलकर तैयार किया है। हम अपना अन्न खुद उगाते हैं। मैं अपने कपड़े सिलती हूँ। ऐसा ही जीवन वह जीना चाहते थे इसलिए अपने अंतिम दिनों में बार-बार हमारे पास अपने सपनों को जीने के लिए आते थे।

एना अपने पिता के साथ छत्तीसगढ़ भी गईं और वहां के आदिवासी कलाकारों से मिलीं। वे बताती हैं कि मैं उन्हें देखकर दंग रह गई। वे लोग प्रकृति के सह-अस्तित्व में बेहद सुंदर जीवन जीते हैं। मैंने अपने पिता से कहा भी था कि नया थियेटर के कलाकार चूंकि आदिवासी हैं और उनकी जीवनशैली पर्यावरण के लिए सबसे ज्यादा अनुकूल है, इसलिए नया थियेटर को पर्यावरण के मुद्दों और वैश्विक चेतना जगाने का काम करना चाहिए। उन्होंने कहा कि अगर नया थियेटर ऐसा कुछ करता है तो मैं उनके साथ हूँ। गौरतलब है कि सुश्री तनवीर पर्यावरण मुद्दों के लिए भी काम करती हैं। वे राष्ट्रीय स्तर की संस्था एकता परिषद् के साथ उड़ीसा के जिलों में पर्यावरण संरक्षण के लिए गीत गाते हुए पद-यात्रा कर चुकी हैं।

अपनी बहन नगीन तनवीर से मात्र पाँच महीने बड़ी एना से जब पूछा गया कि चूंकि वो आयरिश, फ्रेंच, मेडागास्कर, गैलिक आदि कई भाषाओं में गाती हैं तो उन्होंने अपने पिता से छत्तीसगढ़ी में गाना क्यों नहीं सीखा। इस पर एना का कहना है कि मैं सीख सकती थी मगर वह नगीन की दुनिया है। नगीन उस विधा की पारंगत गायिका है और मैं उसकी दुनिया में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी।

एना बताती हैं कि पूरी दुनिया मेरे पिता की कहानी जानती है मगर मेरे माँ की कहानी भी कुछ कम असाधारण नहीं है। मेरी माँ जिल एक गायिका थीं और सोलह साल की उम्र में मेरे पिता से मिलीं। 21 साल की उम्र में उनके साथ रहने के लिए हिन्दुस्तान आईं गईं मगर पिता का दूसरी महिला के साथ संबंध हो जाने की वजह से वह लौट गईं। वो ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं और उनके पास नौकरी नहीं थी। आयरलैण्ड सामाजिक रूप से हिन्दुस्तान से भी अधिक कट्टर है वहाँ किसी अविवाहित महिला का माँ बनना असंभव है, वहाँ की महिलाओं को आज भी गर्भपात का अधिकार नहीं है। मगर मेरी माँ मुझे जन्म देना चाहती थी और उन्होंने ऐसा ही किया। मुझे पालने के लिए छोटी-मोटी नौकरियाँ कीं। फिर से पढ़ाई शुरू की और स्कूल में नौकरी हासिल की। वे अभी जीवित हैं और हबीब जी को आज भी उतना ही चाहती हैं जितना वो सोलह साल की उम्र में चाहती थीं। वे कहती हैं कि तुम्हारे पिता से मेरी सबसे पुरानी दोस्ती है, पचास साल पुरानी दोस्ती।

खुदा की कसम लाजवाब हो...!

भोपाल के होटल जहाँनुमा पैलेस में प्रेम गीतों का संगीत गुनगुनाती रंगकर्मी हबीब तनवीर की विदेशी बेटी एना

पावस के बाद साफ शफ्फाक आसमान पर स्फटिक सा चमकता चाँद ही शरद ऋतु की पहचान है। कहते हैं शरद की पूर्णिमा पर साल में एक बार चाँद अपनी पूरी 64 कलाओं के साथ खिलता है। लेकिन भोपाल के आसमान से उतरी उस साँझ मनोहारी शरद ऋतु को प्रेम गीतों का ऐसा साथ मिला कि मानो पूर्णिमा का चाँद रौशन हो उठा। अंग्रेजी सहित तमाम भाषा के कवियों ने ऑटम (शरद) पर अनेक प्रेम गीत लिखे हैं। इन गीतों को एना तनवीर की आवाज मिली तो जादुई असर पैदा हो गया। आखिर में जब उन्होंने गुनगुनाया- 'चौदहवीं का चाँद हो या आफताब हो।' तो दाद में पंक्तियाँ मिलीं- 'खुदा की कसम लाजवाब हो।'

रंग मनीषी हबीब तनवीर और जिल मैकडोनाल्ड की गायक बेटी एना तनवीर भी दिलकश अंदाज में रू-ब-रू हुईं। सुनहरे बालों और दूधिया रंगत की यह खूबसूरत गायिका लाल रंग का लम्बा कुर्ता और महीन ओढ़नी पहनें थीं और यूरोपीय देशों की परियों का वाद्य 'केल्टिक हार्प' बजा रही थीं। गौरतलब है कि फिलहाल एना फ्रांस में रह रही हैं मगर उन्हें अपने जन्म स्थान डबलिन (आयरलैण्ड) के प्रति अगाध स्नेह है, इसीलिए अधिकांश गीत उन्होंने आयरिश में गाए। यही नहीं उन्होंने बजाने के लिए वह वाद्य चुना जो आयरलैण्ड का राष्ट्रीय चिन्ह है। 'केल्टिक हार्प' नामक यह वाद्य यूरोपीय देशों की कहानियों में परियाँ बजाती हैं। यह दुनिया के पुरातन वाद्यों में से एक है। इसमें ढेर सारे तार होते हैं। एना ने गाने की शुरुआत प्रख्यात कवि डब्ल्यू बी यीट्स की कविता से की। इसके बोलों का अर्थ कुछ यूँ था- 'उसने मुझसे कहा ऐसे जियो जैसे पौधों पर पत्ते निकलते हैं, मैं मूर्ख, मैंने उसकी बात नहीं मानी और आज मेरी आँखों में आँसू हैं।'

'सॉनरा' नाम का एक गीत 'मैलागेसी' यानि मेडागास्कर की भाषा में गाया। एना का मेडागास्कर के संगीत के प्रति जबरदस्त आकर्षण और लगाव है। वे कहती हैं कि मैं हृदय से भारत और आयरलैण्ड के बीच खुद को पाती हूँ। वे कहती हैं कि मैलागेसी गायन की भाषा है। इस भाषा का गीत सुनकर लगा कि सचमुच इसमें इतना रिदम है कि किसी भी संगीत रसिक के लिए गुनगुनाना और थिरकना लाजमी हो जाता है। इसी भाषा का एक अन्य गीत भी एना सुनाया जो कि समंदर से रोजाना दो-चार होने वाले नाविकों के बारे में थे।

एना ने अपने लिए लिखा एक गीत 'डबलिन गर्ल' भी गाया। उनका जन्म आयरलैण्ड के इसी शहर में हुआ। इस गीत को तबला और सितार के संगीत के साथ रिकार्ड करने वाली हैं। एक अन्य गीत 'कैरिक फैगस' था जो आयरलैण्ड की एक जगह के बारे में है। फिर स्कॉटलैण्ड की भाषा में एक प्रेम गीत गाया। एना के साथ फ्रांस के एक मशहूर गिटारिस्ट यान बोजुआन संगत कर रहे थे।

अलग-अलग भाषाओं के गीतों में हिन्दी सिनेमा का यादगार गीत भू गूँजा- 'चौदहवीं का चाँद हो या आफताब हो... जो भी हो तुम खुदा की कसम...लाजवाब हो'। भले ही गाने का टोन यूरोपीय था, मगर गायन से पैदा हुआ रस सार्वभौमिक था।

इस गीत की कहानी कुछ यूँ है कि जब उनकी माँ हबीब जी से मिलने हिन्दुस्तान आईं तो कहीं पर भू-स्खलन की वजह से उनकी बस को घंटों इंतजार करना पड़ा। ड्राइवर ने लगातार इतनी बार यह गीत बजाया कि उन्हें याद हो गया। माँ का सुना यह गीत जब उन्होंने हबीब जो को सुनाया तो उन्होंने इसे बिल्कुल सुधारने की कोशिश नहीं की। बचपन से लेकर आज तक एना अपनी शैली में 'चौदहवीं का चांद' गाती आ रही हैं।

मुंबई के दक्षिणी छोर स्थित संगीत नाट्य अकादमी के एन.सी.पी.ए. का प्रतिष्ठित टाटा सभागार। टाइम्स ऑफ इंडिया और लवासा सिटी के मुख्य प्रायोजन में मुंबई की साहित्यिक बिरादरी 'लिटरेचर लाइव' के तीन दिनी आयोजन की शुरुआती आगवानी कर रही है। दिन भर इतर विषयों पर चली साहित्यिक बहस के बाद शाम, प्रसिद्ध अभिनेता अनुपम खेर से रूबरू होने के लिए उतावली है। सभागार खचाखच भरा हुआ है फिर भी 'पिन ड्रॉप साइलेंस' जैसा कुछ है। सभी टकटकी लगाये हुए मंच पर देख रहे हैं कि मंच के किस कोने से अनुपम खेर अपनी एंट्री लेते हैं। चुप्पी को तोड़ते हुए अचानक एक आवाज उस तरफ से आती है जहाँ से दर्शक सभागार में दाखिल हुए हैं- ''क्या बात है, आप सब लोग इतने चुप क्यों हैं...बातें कीजिये...'' सभी अपना ध्यान और निगाह उस आवाज की ओर ले जाते हैं। एक पल को सब खामोश और दूसरे ही पल एक गोरे-चिट्टे मझोले कद के दबीज-सी शख्सियत वाले जाने-पहचाने आदमी को देखकर लोग हैरत और विस्मय से भरकर तालियाँ बजाने लगते हैं।

जब मंच पर हों अनुपम खेर

''कुछ भी हो सकता है''

सुदीप सोहनी

जी हाँ, ये तालियाँ अनुपम खेर के लिए ही हैं। अनुपम अपने इसी अंदाज में दर्शकों से रूबरू होते हैं। पूरे सभागार में बैठे लोगों से मिलते हैं, उनसे बातें करते हैं और मंच पर आने की अनुमति लेते हैं। ....और इस तरह शुरू होता है अनुपम खेर के एकल अभिनय वाला उनका बहुचर्चित नाटक ''कुछ भी हो सकता है''। फिरोज अब्बास खान के निर्देशन में अनुपम अब तक इस नाटक की कुछ 200 से ज्यादा प्रस्तुतियाँ दे चुके हैं। कहानी अनुपम की स्वयं की जीवनी है जिसमें उन्होंने अपने शिमला से निकल कर बॉलीवुड तक का सफर अपने उसी अंदाज में बयां किया है जिसके लिए वो जाने जाते हैं।

बचपन, लड़कपन, जवानी, शिमला, दादाजी की सीखें और दादी की बचपन में सुनाई कहानियां, माँ-पिता की बातें और घर के संस्कार, मित्र, पहला प्रेम, एन.एस.डी. और अपने गुरु। मुंबई का संघर्ष, फिल्मी करियर और इन सबके साथ जुड़े जिन्दगी के तमाम उजले-धुंधले, खट्टे-मीठे अनुभव और याद के रंग, ये सब जब खुद अनुपम की जुबानी मंच पर अभिनीत होते हैं तो तीन घंटे कैसे गुजर जाते हैं पता भी नहीं चलता। अपने हास्य बोध और ह्यूमर के मिले-जुले अंदाज़ के साथ खेर अपनी जिन्दगी के तमाम उतार-चढ़ाव और संघर्ष की दास्तान को अभिनय से बहुत उंचाई पर ले जाते हैं।

जिंदगी के फलसफे को प्रस्तुत करते हुए खेर, कई बार बचपन में की गई शरारतों को उसी मासूमियत और चुहल से एक बार फिर जीते दिखते हैं और अपनी अदायगी से दर्शकों को हंसा-हंसा कर लोटपोट कर देते हैं तो कहीं-कहीं संघर्ष के दिनों में धूल फांकती अपनी जिद और जद्दोजहद के कई घटनाक्रमों से आँख गीली कर जाते हैं। इन सबके बीच किसी भी परिस्थिति में हमेशा सकारात्मकता और ऊर्जा बटोर लेने की अपनी फिलोसोफी के फायदे गिनाना भी नहीं भूलते हैं।

मजेदार तरीके से एक किस्सा सुनाते हुए खेर कहते हैं कि 'फिल्म 'सारांश' में बी.बी. प्रधान के रोल के लिए मैंने 6 महीने तक उस किरदार पर काम किया और जब रोल उनके बजाए स्व. संजीव कुमार को दिए जाने की बात सामने आयी तो उन्होंने महेश भट्ट को श्राप देते हुए उनसे कहा कि आपने मुझे धोखा दिया है महेश ने मेरी बात को सुना और फिर 'सारांश' का वह रोल मुझे ही करने को मिला'

अनुपम खेर को मंच पर देखना वाकई रोमांचक है। नैरेटिव शैली का यह प्रदर्शन इस अर्थ में भी अलग है कि आमफहम मंचन की सारी औपचारिकताओं से परे खेर ने इसे किस्सागोई का एक ऐसा फॉर्म दिया है जिसमें वो कई बार दर्शकों के साथ कई और बातें करते हुए उनके साथ एक आम दर्शक ही बन जाते हैं और फिर एक झटके में पुनः किरदार में वापस आ जाते हैं।

अनुपम खेर ने अपने अभिनय से उन तमाम गुजरे अनुभवों को बहुत गहराई, सूक्ष्मता, ईमानदारी और पारदर्शिता से साझा किया है जो उन्हें एक अभिनेता के रूप में स्थापित और सर्वमान्य कलाकार का दर्जा दिलाने वाले कारक सिद्ध हुए हैं. यही कारण है कि संग-ए-मील रहे अपने तमाम साथी दादा-दादी, माँ-पिता, दोस्त विजय सहगल, रंगमंच के अपने गुरुओं स्व. बलवंत गार्गी, अमल अलाना और इब्राहीम अल्काजी, फिल्म इंडस्ट्री के मित्र महेश भट्ट, सुभाष घई, स्व. संजीव कुमार, सतीश कौशिक, पत्नी किरण खेर आदि और उनके किस्से कई बार जिक्र में आते हैं।

अपने जीवन के तमाम उतार-चढ़ाव और सफलता-असफलताओं के बीच गहरी रेखा पाटने वाले खेर अपनी इस कहानी में, कभी जिंदगी की कड़वी सच्चाई को हास्य के रूप में तो कभी उस सच्चाई का सामना करके उससे लड़ने की कूबत अर्जित करने के रूप में, उम्मीद और उजाले की संभावनाओं को हर क्षण तलाशते दिखाई देते हैं।

अनुपम खेर को मंच पर देखना वाकई रोमांचक है। नैरेटिव शैली का यह प्रदर्शन इस अर्थ में भी अलग है कि खेर ने आमफहम मंचन की सारी औपचारिकताओं से परे इसे किस्सागोई का एक ऐसा फॉर्म दिया है जिसमें वो कई बार दर्शकों के साथ कई और बातें करते हुए उनके साथ एक आम दर्शक ही बन जाते हैं और फिर एक झटके में पुनः किरदार में वापस आ जाते हैं। ये उनकी अपनी जबरदस्त प्रतिभा ही है जिसमें उन्होंने अपने सम्पूर्ण अभिनेता होने का वो प्रमाण दिया है जिसकी दरकार कभी भी नहीं रही...!!

***पुस्तक** : नौटंकी की मलिका गुलाब बाई*
***संपादक** : दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा*
***प्रकाशक** : पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली*

नौटंकी की नायिका का संघर्ष

पिछली सदी के आरंभिक दशकों में उत्तरप्रदेश के कन्नौज और कानपुर के बीच नौटंकी लोकनाट्य शैली का जन्म हुआ। आजादी के पहले गांव-देहात और कस्बों के दशकों की अभिरुचि से यह सिनेमा के विकास के समानांतर सुदृढ़ हुई। इसने अपना उत्कर्ष देखा और फिर सामाजिक विकास के साथ बदलती लोकरुचि से तालमेल नहीं बिठा पाने के कारण पिछली सदी के अंतिम दशक में लुप्तप्राय हो गई। सरकारी फाइलों में यह आज भी जीवित लोकनाट्य शैली होगी, लेकिन मेलों की जमघट बिखरने के साथ ही नौटंकी का प्रचलन खत्म होता गया है। अब न वह रेला रहा और न मनोरंजन की वैसी उछाल। अब तो 25 रुपये में किसी भी फिल्म की डीवीडी आ जाती है और टीवी पर फिल्मी सितारे नाचने लगते हैं। हम अपनी लोक परंपराओं से सदा से ही असंवेदनशील रहे हैं। हमने लोकनाट्य की इस विधा को बचाए रखने की कोई कोशिश नहीं की। दीप्ति प्रिया मेहरोत्रा की 'नौटंकी की मलिका गुलाब बाई' सिर्फ एक व्यक्ति की जीवनी नहीं है। यह पुस्तक नौटंकी की सामाजिक पृष्ठभूमि के साथ नौटंकी से जुड़े कलाकारों की जिंदगी के आईने में हमें मनोरंजन के तत्कालीन सौंदर्यबोध और संवेदना से भी परिचित कराती है।

दीप्ति ने पूरी मेहनत और मनोयोग से गुलाब बाई के जीवन की सूचनाओं और सामग्रियों को समेटा है। उन्होंने एक रोचक क्रम में उपलब्ध सामग्रियों को प्रस्तुत किया है। गुलाब बाई के परिचितों और रिश्तेदारों के संस्मरणों से उन्होंने सूचनाओं को पुख्ता किया है। गुलाब बाई के जीवन के पहलुओं के विवरण में दीप्ति बेवजह की सहानुभूति या कथित नारीवाद का झंडा नहीं फहरातीं। हाय अन्याय हो गया, का गुहार नहीं लगातीं? उन्होंने आजादी के पहले और बाद के समाज में नौटंकी कलाकारों की सामाजिक और पारिवारिक स्थितियों की मीठी-कड़वी सच्चाइयों के मध्य ही गुलाब बाई को रखा है। इस पुस्तक में गुलाब बाई नायिका से अधिक अपने समुदाय की प्रतिनिधि के तौर पर उभरती हैं। गुलाब बाई के जीवन में कोई मनोग्रंथि नहीं है, इसलिए उनकी जीवनी में भी साफगोई झलकती है।

दीप्ति ने गुलाब बाई के संबंधों के बारे में साफ-साफ लिखा है। जाहिर है कि गुलाब बाई की बेटियों के स्वच्छ संस्मरण से ही उन्हें यह युक्ति मिली हो। गुलाब बाई ने स्वच्छंद होने के बाद अनुशासित जीवन का अनुसरण किया। तभी तो वह ग्रेट गुलाब थिएटर कंपनी की स्थापना कर सकीं। उन्होंने अपने गुरु और संरक्षक तिरमोहन से क्षुब्ध होने के बाद अपनी कंपनी स्थापित की और उसे शीर्ष पर पहुंचा दिया। गुलाब बाई को उनके कलात्मक योगदान के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार और पद्मश्री सम्मान भी मिला। इसके बावजूद नौटंकी का अब कोई नामलेवा नहीं है। आज भी नौटंकी देखी जा रही होगी, लेकिन इसके प्रति पुराना जोश नहीं बचा है। दीप्ति ने नौटंकी के उत्स, संरचना, विकास, विधि-विधान और उपक्रम का विस्तृत ब्यौरा दिया है। उन्होंने गुलाब बाई की जीवनी के साथ ही नौटंकी का सामाजिक इतिहास भी लिख दिया है।

पुस्तक में गुलाब बाई के जीवन में नौटंकी का इतिहास गुंथा हुआ है। दीप्ति ने उन्हें अलगाने की कोशिश भी नहीं की है। उन्होंने सरल और सीधी शैली में गुलाब बाई का जीवन रच दिया है। यह पुस्तक गुलाब बाई के जीवन और नौटंकी के इतिहास पर विस्तृत अध्ययन का मूल आधार बन सकती है।

अजय ब्रह्मात्मज

विनय उपाध्याय

रूह में बजता रहेगा 'राग भीमसेन'

जैसे समंदर की अथाह, अछोर जलराशि के सामने हमारा अस्तित्व हार जाता है... जैसे शिखर से आँखें मिलाते हुए हमारी निगाह बौनी पड़ जाती है... जैसे आकाश का ओर-छोर नापते हुए हमारे पैमाने सिमट जाते हैं, ठीक ऐसी ही लघुता का अहसास हुआ था जब पंडित भीमसेन जोशी से पहली बार रूबरू होने का मौका आया था। अनहद के इस अनंत को उपमाओं, रूपको और प्रशस्तियों की हदबंदी में नापने की कोशिशें हारने लगी थीं लेकिन प्रतिभा के इस हिमालय को जब उनकी सुरीली छवियों के बीच सहज-विनम्र पाया तो धन्यता रग-रग में घुल गई। संगीत रसिक समाज को इस बात का गर्व रहेगा कि उसकी देहरी पर पंडित भीमसेन जैसे संगीत के महासागर की लहरें बार-बार आकर टकराती रहीं। उनके कंठ से बहती सप्तसुरों की धाराएँ जाने कितने बेजान और बेचैन दिलों पर मौसिकी का मरहम लगाती रहीं। नियति ने भले ही भारत के इस नादपुत्र को हमसे छीन लिया है लेकिन संगीत के इस संत की वाणी मंत्र की तरह हमारे आसपास गूँजती रहेगी।

पंडितजी की शख्सियत एक बिरला सच है। कर्कशता के इस दौर में करुणा का सुरीला विश्वास अगर आज भी जिंदा है तो उसका श्रेय उन जैसे कीर्तिकलश को ही जाता है। उम्र की चढ़ती बेल ने निश्चय ही उन्हें थका दिया था और पहले की तरह मंच और महफिलों में उनके कंठ की रागदारी का रोमांच बिखरना बंद हो गया था। गाहे-ब-गाहे उनकी नासाज सेहत मीडिया की सुर्खी बनती रही और उनके कद्रदानों का मन आशंकाओं से घिरता रहा लेकिन पिच्चासी पार के भीमसेन लंबे समय तक काल से होड़ लेते रहे और सांसों का कारवाँ बहुत आगे तक बढ़ा। जीवित होते तो पंडितजी आने वाली 4 फरवरी को नवासीवाँ जन्म दिन मनाते। बहरहाल, उम्र का आंकड़ा तो बहुत से लोग पार कर लेते हैं लेकिन उपलब्धियों के सोपान तय करते हुए सार्थकता की मिसालें गढ़ने का माद्दा सबको कहाँ नसीब होता है। पंडितजी की जिंदगी का हर लम्हा यूँ हैरतभरी कहानी से कम नहीं।

यह धूप की तरह साफ है कि भारतीय संगीत का परचम अगर आज सात समंदर पार भी लहरा रहा है तो इस विश्वजनीन व्यापकता के पीछे पंडित भीमसेन जोशी के पुरुषार्थ को अनदेखा नहीं किया जा सकता। क्या कारण है कि संगीतज्ञों और कलावंतों की बिरादरी में वे अलग से रेखांकित किए जाते रहे? दरअसल आकांक्षा और उपलब्धि के बीच पंडितजी की यात्रा संघर्ष के पादान चढ़ती रही। संकल्पित मन लेकर, अनजाने, पथरीले रास्तों पर चलकर उन्होंने जिस निष्ठा से संगीत के देवता को पूजा, सारी दुनिया गर्व से अपना माथा ऊँचा कर सकती है। हिन्दुस्तानी संगीत के इस गायक को हिकारत और अवमानना के बाद पद्मश्री पद्मभूषण और भारत रत्न जैसे सम्मान के विभूषण मिले। यश की यह पूँजी उनकी साधना की कमाई है। दौड़ और होड़ के इस जमाने में आसानी से सब कुछ पाने की जुगत में हारे-थके युवा स्वप्न दृष्टाओं को पंडितजी की जिंदगी के पन्ने जरूर बाँचने चाहिए जहाँ उस्ताद अब्दुल करीम बख्श के पटुशिष्य पं. सवाई गंधर्व की सीखों को रोम-रोम में उतारकर किराना घराने की गमक-चमक करीने से महफूज है। गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा और उनके ऋण का सम्मान करते हुए पंडितजी ने पूना में सवाई गंधर्व संगीत समारोह की शुरुआत की। अकेली निष्ठा के दम पर चार दशकों से यह उत्सवी यात्रा जारी रखी। गुरु भक्ति का यह भाव उनके साथ में भी कभी झाड़ू थमाता रहा सफाई के लिए तो कभी अतिथि के लिए चाय के प्याले और संगीतकारों के लिए तानपुरा उठाए ये बड़प्पन का परिचय देते रहे। यही वजह रही कि पूना का यह संगीत पर्व गायन-वादकों के लिए तीर्थ की तरह पवित्रता और सौभाग्य का प्रतीक रहा। पंडितजी ने इस समारोह में श्रवण के ऐसे संस्कार डाले कि हजारों श्रोताओं की अनुशासित उपस्थिति रात के आखिरी प्रहर तक वहाँ देखी जा सकती थी।

उनके कंठ से बहती सप्तसुरों की धाराएँ जाने कितने बेजान और बेचैन दिलों पर मौसिकी का मरहम लगाती रहीं। नियति ने भले ही भारत के इस नादपुत्र को हमसे छीन लिया है लेकिन संगीत के इस संत की वाणी मंत्र की तरह हमारे आसपास गूँजती रहेगी।

भीमसेन की जिंदगी की किताब के पृष्ठ बाँचते हुए आश्चर्य और सुख की अनुभूति होती है भारत के आजाद होते-होते वे पच्चीस की उम्र पार कर गए थे। गुरु से शिक्षा दीक्षा के बाद उनके गले में सरस्वती का ऐसा वास हो गया था कि जिस भी महफिल या बैठक में गाते, श्रोताओं पर सम्मोहन छा जाता। आकाशवाणी की सभाओं से लेकर खुली महफिलों तक लाखों श्रोता उनके जादुई गायन की गिरफ्त के लिए आकूल हो उठते। यह वही समय था जब स्वाधीनता के बाद भारतीय शास्त्रीय संगीत दरबारों और गुरुकुलों के दायरों से निकलकर जनता के बीच रसिकता के

नए रिश्ते का सूत्रपात कर रहा था और पंडितजी प्राण-पण से शास्त्रीय संगीत के लोकतंत्र के मसीहा बन गए थे। इस अभियान के चलते उन्होंने कई प्रयोग किए, रुढ़ियों के सामने नवाचार की नई-लकीरें खींची। लीक पर चलने वाले पंडित उस्तादों की खिलाफत का सामना किया लेकिन वे मर्यादित जनप्रियता की स्थापना करने में सफल रहे।

दूरदर्शन पर प्रसारित 'मिले सुर मेरा तुम्हारा' में एकता का सनातन सूत्र लेकर वे बच्चे से लेकर उम्र दराज तक अपनी स्वर माधुरी की छाप छोड़ने में सफल रहे। भक्ति के आध्यात्म को उन्होंने 'जो भजे हरि को सदा वो ही परम पद पाएगा' और 'विट्ठल तीर्थ विट्ठल' जैसे अभंग शैली के कन्नड़ गीत से लेकर लता मंगेशकर के साथ गाए 'राम भजन कर लीना' तक नई आनंद चेतना प्रदान की। उन्होंने कई विधाओं में गाया लेकिन पारस की छुअन जैसी अद्भुत अनुभूति हर बार मन की मलिनता को पोंछकर संगीत की शुभ्रता की पावन प्रतिष्ठा करती रही।

कभी दक्षिण के डॉ. बालमुरलीकृष्ण के साथ कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत की जुगलबंदी तो कभी चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन के साथ मंच पर गायन-चित्रण। कभी टी.वी. पर देशराग गुनगुनाते तो कभी कैंसर पीड़ितों के लिए 'जीवन संगीत' बनकर प्रकट होते। ऐसे साधक सदा जनता की आत्मा के आसन पर बिराजते हैं।

स्मृति शेष

विनय उपाध्याय

इस्पाती इरादों का चटख रंग

गुल की कहानी चंद लफ्ज़ों में समेटना कतई मुमकिन नहीं। उसकी महक को कागज़ पर महफ़ूज़ करना भी संभव नहीं लेकिन इस विलक्षण कलाकार को जिस भी सिरे से याद करो, जितना भी याद करो, अंधेरे से जूझती एक रौशनी नुमाया होती है और उस उजाले में एक-एक तारीख को पढ़ता मन अपार श्रद्धा और अपनापे से भर उठता है।

और होंगे चरण हारे,
धन्य हैं जो लौटते दे
शूल को संकल्प सारे!

दुनिया-ए फानी को रुख़सत करते हुए भी जैसे उस रूह की आवाज़ में अपने सपने का यही संगीत लहरा रहा था। बैले की बाँवरी, कला के रंगमंच की 'गुलवर्धन' और अपनों की 'गुलदी' देह-दान के लिए राजधानी के गांधी मेडिकल कॉलेज की ओर प्रस्थान कर रही थीं। श्यामला हिल्स की ढलुआ जमीन पर बने उनके बसेरे (रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप) की चौखट से यह उनकी अंतिम यात्रा थी। फिर कभी वहां लौटने की अब कोई उम्मीद बाकी नहीं है, लेकिन वो गहरी छापें शायद कभी धूसर न होंगी, जिनमें इस्पाती इरादों के चटख रंग गुल ने जागते-सोते यहाँ-वहाँ लीप दिए हैं। विश्व रंगमंच पर भारतीय बैले की प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली गुलवर्धन की ज़िंदगी के अध्याय गवाह हैं, जिन्हें उन्होंने अपने रक्त से लिखा। मध्यप्रदेश को इस बात का फक्र होना चाहिए कि इस अनोखी फनकार की सरजमीं का सौभाग्य उसे हासिल हो सका और इस उपलब्धि का प्रतीक बनी एक स्त्री।

गुल की कहानी चंद लफ्ज़ों में समेटना कतई मुमकिन नहीं। उसकी महक को कागज़ पर महफ़ूज़ करना भी संभव नहीं लेकिन इस विलक्षण कलाकार को जिस भी सिरे से याद करो, जितना भी याद करो, अंधेरे से जूझती एक रौशनी नुमाया होती है और उस उजाले में एक-एक तारीख को पढ़ता मन अपार श्रद्धा और अपनापे से भर उठता है। मृत्यु से आठ दिन पहले ही (19 नवंबर को) गुल ने बयासीवां जन्मदिन मनाया था। उनके एकांत में यकीनन रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, मेघदूत और भैरवी से लेकर वे तमाम नृत्य-नाटिकाएं कौंधी होंगी, जिनके सैकड़ों मंचनों के साथ जाने कितनी यादें हैं! आंसू और मुस्कानों के साथ जाने कितने खट्टे-मीठे अहसास! वक्त के साथ बहुत पीछे छूट गया बचपन, तरुणाई, इरादे, फाकाकशी, सफलता के परचम और ढलती उम्र के साथ बार-बार जवां होते सपने... क्या कुछ नहीं उमड़ा होगा गुल के सीने में। अब जबकि वे सशरीर नहीं है, उनकी आंख से देखा सपना उन सबकी आंखों में हिलोरें ले रहा होगा जिन्होंने गुल के साए में रहकर अपने फन को, संस्कारों को संवारा।

जगत ख्यात नर्तक-कोरियोग्राफर शांतिवर्धन के सपने की आत्मा बनकर गुल ने चालीस के दशक में बैले की सरहद में कदम रखा। 14 साल की उम्र में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ीं और बाद में उसी की सांस्कृतिक इकाई 'इप्टा' की सूत्रधार बनीं। आर्थिक रूप से संपन्न कुल की इस कन्या ने कला की डगर पर चलना मंजूर किया तो किसी भी खरोंच पर उफ्फ नहीं किया। शांतिवर्धन के साथ मुंबई में रहकर देश-विदेश की सांस्कृतिक सैर की। बैले जैसी पराए मुल्क की नृत्य शैली में भारतीयता के

नए रंग भरे। संयोग उन्हें ग्वालियर और फिर भोपाल खींच लाया और वे यहीं की होकर रह गईं। 1952 में स्थापित उनका बैले ट्रूप खुद के भवन की सौगात पा सका, जिसकी एक-एक ईंट और उस भूमि पर लहराती वनस्पती को गुलदी ने अपने प्राणों से सींचा। संभवतः गुलदी भारत की पहली ऐसी कलाकार हैं जिन्हें कलाओं के देश पैरिस ने 1964 में अपने सर्वोच्च कला सम्मान से नवाज़ा था। 'वेवेलियर डेल ऑर्डर डेस आर्ट्स एंड डेस लेटर्स' नाम के इस अवॉर्ड पर दुनियाभर की नज़र थी। बाद में संगीत नाटक अकादमी दिल्ली और म.प्र. संस्कृति विभाग ने भी गुलवर्धन के योगदान को पुरस्कार के लायक समझा। भारत सरकार के सर्वोच्च नागरिक अलंकरण 'पद्मश्री' के लिए इनका चयन हुआ।

अदम्य उत्साह लेकिन अनुशासन की परम हिमायती। जिसकी कला पर पं. जवाहरलाल नेहरू, कृष्ण मेनन, इंदिरा गांधी, मार्शल टीटो, बलरात साहनी, राजकपूर और शांताराम सरीखी शख्सियतें मुग्ध हों और हर मुराद पूरी करने के लिए दोनों हाथों से कृपा लुटाने को तैयार हों, वहां एक साधनहीन कलाकार की अनुग्रह का याची न बनने की मिसाल अब दुर्लभ ही है। सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' ने जब गुलवर्धन के जीवन-सृजन पर एकाग्र विशेषांक प्रकाशित किया गुल ने तो बाकी रह गए कई सपने साझा किए- रंगश्री परिसर में बैले और नाटकों के लिए प्रयोग और अनुसंधान का स्टूडियो, बैले स्कूल, रंगकला का म्यूजियम, बैले थिएटर, बच्चों के कला शिविर और ललित कलाओं के प्रशिक्षण के लिए एक प्रभाग। जाहिर है कि वे अस्सी पार की उम्र में भी श्रांत भवन में टिके रहना नामंजूर करती रहीं। अब कठिन उत्तराधिकार को पूरा करने की चुनौती उनके कला-कुनबे पर है। किसी ने कहा है- 'जाग तुझको दूर जाना है....'। गुलदी की विरासत भी यही चाहती है।

गुलवर्द्धन
कुछ स्मृति बिंब

सच्चिदानंद जोशी

भैरवी

रहस्यमयी लाल रौशनी के बीच
मंच पर प्रकट होती भैरवी
तेज़ हो जाती आवाज़ें,
घुंघरू, ढोल और चीखों की,
पहुँचता जाता उन्माद
अद्भुत रस के चरम पर।

पता नहीं कैसे
उस छोटी सी काया में
समा जाती अकस्मात्
दुर्गा, चंडी और महाकाली
कैसे विशाल से विशालतम हो जाती
वह दुबली पतली सूक्ष्म काया।

बैले खत्म होने के बाद भी
दिमाग में घूमता तांडव भैरवी का
भयभीत और विस्मय से भरे
निकलते जब बाहर थियेटर से
सोचते रहते लगातार
उस अद्भुत कथा के बारे में।

नहीं दीखती तब भी
कोने में दुबकी वह छोटी सी काया
सिगरेट और लोबान के
मिश्रित धुएँ के बीच
भैरवी का तांडव समेटे
तह करती अपनी लाल साड़ी।

राम

तालियों की गड़गड़ाहट के बीच
खत्म हो जाता शो
और मुखौटों के पीछे छिपे
कलाकारों को ढूंढने की कोशिश में
ग्रीन रूम की ओर भागते दर्शक।

एक-एक मुखौटे के साथ
क्रमशः विन्यस्त होती रामकथा।

अगले प्रदर्शन के लिये
मुखौटे सहेजकर रखने की जल्दी है।
नहीं ढूँढ पाते कोई राम को
मुखौटा तो मिलता है
पर वो देह नहीं
जिसने धारण किया था मुखौटा।

एक दुबली-पतली छोटी सी काया
सहेजकर रखती सामान बक्सों में
ग्रीन रूम की हलचल से बेखबर,
इतनी आसानी से मिले हैं
'राम' कभी किसी को?

ऍश ट्रे

नारियल के खोल से बनी
वो डगमगाती ऍश ट्रे,
एक सीधा एक उल्टा खोल
लेकिन दोनों जुड़े हुए एक-दूसरे से।

कल्पनाओं की उड़ान समेटे
रचनात्मकता से भरी लबालब
सिगरेट के ठूँठ, माचिस की तीलियाँ
और कुछ बीड़ी के टुकड़े भी।

सब कहानी कहते
एक अलग सपनों की दुनिया की।

धुँए के उठते गुबारों में
गुम होती जिंदगी।

एक खोल टूट जाने के बाद
कितनी देर बची रह सकती थी
वो ऍश ट्रे।

दूसरा टुकड़ा बिखरना ही था।

अधजली तीलियों के साथ
रह गये हैं यादों के कुछ ठूँठ
और सिगरेट का खाली पैकेट।

वाटर कार्टन

पता नहीं, वैसा उल्लास
कब किस बच्चे के चेहरे पर देखा था,
पता नहीं, कब कोई बड़ा
इतनी जोर से खिलखिलाया था
जैसे उल्लसित हो खिलखिलाई थी वो
जब चला था वाटर कर्टन
रागबंध में पहली बार।

वह मानो उसके सपनों का चरम था
मानो कल्पना की पराकाष्ठा
मानो उपलब्धि की ऊँचाई
मानो पूर्णता की अनुभूति।

पता नहीं, कितनी बार
रेखायें खींचकर मिटाई होंगी
पता नहा। कितनी बार बनाये होंगे
एस्टीमेट खर्च के
पता नहीं, कितने लोगों से
किया होगा राय-मशवरा।

लेकिन एक पल को उसका
ध्यान नहीं हटा था अपनी उस ज़िद से।

इसलिये पहली बार जब
देखा था वो नज़ारा
खाली हॉल में
रात के सन्नाटे में
तो अचानक ही झर आये थे आंसू
किसी वाटर कर्टन की मानिन्द।

रंग अक्षर

पुरानी किताबों और साज़ों की धूल
झाड़ने का वक्त आ गया है।

अब और कोई नहीं जो
झाड़ पोछकर, अच्छी तरह साफ करके
सजायेगा उन्हें अलमारियों में
'रंग अक्षर' की।

कोई नहीं, जो
बिना मुंडेर की सीढ़ियों पर
उत्साह से चढ़ते हुए
दुलारेगा, पुचकारेगा
एक-एक किताब, दस्तावेज़ फोटो और साज़
और सुनायेगा दास्ताने, यादें
हर एक के साथ जुड़ी हुई।

ऊपरी मंज़िल का वो कमरा
जो बिना बल्ब के भी
उजास से भर उठता था
किसी के चेहरे की चमक के कारण
खामोश होकर पूछेगा
इतिहास संजोने वाली
तुम खुद क्यों इतिहास हो गई?

Curtain Call

When the stage become vacant,
When the lights become black
When the sound become silent
We saw you awake.

When we lost energy
When we lacked zeal
When we become dull
You kept moving the wheel
We still remain shocked
We still are wondering
You called off the show
Disappeared in the wings dancing.

विवेक मृदुल

थियेटर उनके लिये जुनून था

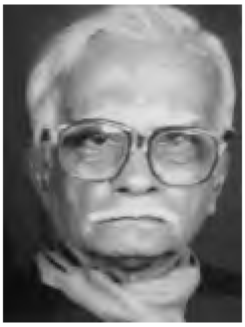

शशांक मुखर्जी

प्रज्ञा मुखर्जी

जीवन की संझा बेला में उनसे रंगमंच की गपशप करने वाले साथी एक-एक कर बिछड़ चुके थे और वो किसी से ये रंग-संवाद सतत बनाए रखना चाहते थे...!!! चुप्पियों से घिर गया था जीवन का रंगमंच। लेकिन भोपाल को उनका जुनून सदा याद रहेगा।

अपनी सात्विक अभिनय शैली और जीवटता भरी संवाद अदायगी के लिए पहचाने जाने वाले बुजुर्ग रंगकर्मी शशांक मुखर्जी को गुजरे बमुश्किल ढाई माह गुजरे होंगे कि 23 नवंबर 2010 को उनकी जीवनसंगिनी और वरिष्ठ अभिनेत्री प्रज्ञा मुखर्जी भी इस फानी दुनिया से 'एक्जिट' कर गईं। उनके साथ शहर के बांग्ला और हिन्दी शौकिया रंगमंच के बीच सुदीर्घ संवाद सेतु रचने वाली रंगत्रयी (तरुण भादुड़ी-शशांक मुखर्जी-प्रज्ञा मुखर्जी) की अंतिम कड़ी भी टूट गई।

...शशांक मुखर्जी का बचपन नागपुर में बीता था, जहाँ के मॉरिस कॉलेज से उन्होंने उपाधि ली थी। वैसे उनका परिवार प. बंगाल में वर्धमान के एक छोटे से गाँव पालशीट से नागपुर आया था। पालशीट में शशांक दादा ने अपनी छोटी-अल्हड़ उम्र में पारंपरिक 'जात्रा' के खूब शो रात-रात भर जागकर देखे थे। शायद लोक मंच देखकर ही बांग्ला रंगमंच के प्रति उनका असीम अनुराग जागा था। अपनी योग्यता और लगन के बल पर शशांक दा ने वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी (प्रमोटी) का उच्च पद हासिल किया था। 1956 के आसपास तभी खंडवा के उच्चं भ्रू बांग्ला परिवार की संगीत और नृत्य की दीवानी विदुषी प्रज्ञा से उनका विवाह हो गया। साठ के दशक के उत्तरार्ध में शशांक मुखर्जी का परिवार भोपाल शासकीय सेवा के निमित्त आया और हमेशा के लिए यहीं का होकर रह गया। उनके छोटे बेटे गौतम (बुजू दा) बताते हैं- यहाँ बाबा (शशांक) को तरुण कुमार भादुड़ी जैसे बांग्ला थिएटर के अनुरागी मित्र मिले तो 'रंगायन' के भाऊ साहेब खिरवड़कर, मामा (श्रीनिवास) कोचकर, पाटनकर जैसे मराठी-हिन्दी रंगमंच' से प्रेम रखने वाले कलाकार भी। फिर क्या था। बाबा और माँ ने जमकर कालीबाड़ी की 'दुर्गा पूजा' में होने वाले बांग्ला नाटकों में हिस्सेदारी की। साथ ही हिन्दी की राष्ट्रीय नाट्य स्पर्धाओं में भी खूब काम किया। थिएटर उनके लिए एक जुनून था...

...बुजूदा दोनों की रंगयात्रा का तफसील देते-देते इतने भावविव्हल हो उठे थे कि उन्हें बात करने में मुश्किल हो रही थी (बुजू दा जोया गौतम के नाम से अंग्रेजी कविताएँ लिखते हैं) और मेरी आँखों के आगे भी उभर रही थी शशांक दा - प्रज्ञा दी से साल भर पहले हुई मुलाकात.. जो मेरी उनसे अंतिम भेंट साबित हुई। मैं एक प्रोग्राम में प्रज्ञा आंटी को जजमेंट देने का अनुरोध करने उनके घर बघिरा अपार्टमेंट पहुंचा था। ...प्रज्ञा आंटी से थोड़ा अपनी नाट्य यात्रा के बारे में जानकारी देने का आग्रह मैंने किया था, क्योंकि मुझे उस प्रोग्राम की एंकरिंग करनी थी। ...और चट से निजी बीमारी और दर्द भूल प्रज्ञा आंटी अपने अखबारी कतरनों के दुर्लभ एलबम और पुराने फोटो के पिटारे को खोलकर बैठ गईं। फिर तो जाने कितनी स्मृतियों को उनके साथ उकड़ू बैठ कर शशांक दादा ने उजाला दिया था। ''जानते हो, बा.बा. कारंत कभी किसी की तारीफ नहीं करते थे पर उन्होंने पठानी बीबी का किरदार ऐसा निभाया कि खुद बाबा को भी इनकी (प्रज्ञा दी की) प्रशंसा करनी पड़ी...'' दादा गर्व से बता रहे थे और प्रज्ञा आंटी किसी नवोदिता अभिनेत्री-सी सकुचा के दोहरी हो रही थीं। उस दिन दोनों ने कितनी ही खट्टी-मीठी यादें मुझसे शेयर की। शायद इसलिए कि मैं शशांक मुखर्जी के साथ 90 के दशक में एक मशहूर प्ले 'लुटेरे' में अभिनय करने का फक्र हासिल कर चुका था और दादा मुझसे घुलमिल गए थे! ...या शायद इसलिए कि उनके जीवन की संझा बेला में उनसे रंगमंच की गपशप करने वाले साथी एक-एक कर उनसे बिछड़ चुके थे और वो किसी से ये रंग-संवाद सतत बनाए रखना चाहते थे...!!!

...बाबा-माँ के चुनिंदा नाटक जो मुझे याद हैं, वो हैं- बाकी इतिहास, फैंस के उस पार, खामोश अदालत जारी है... लुटेरे... बुजू दा बता रहे थे। 'अपनी रुग्णावस्था और थिएटर में काम न कर पाने की पीड़ा के बावजूद उन्होंने अपने ऊपर अवसाद को कभी भी हावी नहीं होने दिया। बाद के दिनों में शशांक दा प्रशासन अकादमी में या रामकृष्ण मिशन आश्रम में व्याख्यान देने जाते थे और प्रज्ञा दी कभी-कभार दूरदर्शन-आकाशवाणी के प्रोग्रामों में शिरकत करती थीं। 'आदि अंत' (निर्देशक शशिकांत सक्सेना), पत्थर की मुस्कान आदि लघु फिल्मों के साथ सुप्रसिद्ध फिल्म 'इन कस्टडी' में भी आपने अभिनय किया था। दूसरी ओर बांछरामेन बगिया (बगिया बांछाराम की) और आग्नेयोगिरी (ज्वालामुखी) उनके क्लासिक बांग्ला नाट्य प्रॉडक्शन थे। पठन-पाठन, बागवानी, संगीत सभी से दोनों को जबरदस्त लगाव था। बुजूदा बताते हैं कि माँ अंग्रेजी की बहुत ही अच्छी जानकारी थीं। इतना कि अंग्रेजी में लगातार लेखन के बाद भी कभी किसी स्पेलिंग पर अटकता तो 'माँ' से कंसल्ट करते ही हल मिल जाता था।

27 नवंबर 2010 को प्रज्ञा आंटी के निधन के चार दिन बाद मैं एक बार फिर शशांक दा - प्रज्ञा दी के घर पहुंचा था। कमरे में बंगाल का खास धूप महक रहा था और गुलाब के ताजा फूलों का एक हार प्रज्ञा आंटी की तस्वीर पर सजा था। अपनी युवावस्था के उस फोटो में प्रज्ञा आंटी अभिनेत्री नूतन की याद दिलाती थीं। ...कुछ हफ्ते पहले माँ से मिलने सतीश मेहता-ज्योत्सना (वरिष्ठ रंगकर्मी) आए थे। बुजू दा ने उस कमरे के लिए बेहद असहज रहे मौन को तोड़ा था। मैंने अपने एक नाट्यालेख की कहानी मेहताजी को सुनाई थी, जिसे उन्होंने बहुत पसंद किया था। उस नाटक में तीन पीढ़ियों की महिलाओं की गाथा थी, जिसमें मेहताजी ने ज्योत्सनाजी के साथ माँ (प्रज्ञा दी) को लेने का प्रॉमिस किया था। उस दिन माँ 'व्हील चेयर' पर आ जाने का बावजूद बहुत प्रसन्न हुई थीं। काश! मेरा यह प्रोजेक्ट पूरा हो पाता...। बुजू दा का स्वर बहुत कातर हो उठा था। घर से बाहर निकलने के बाद मैंने मन ही मन एक प्रार्थना की ...''हे नटराज! शशांक दा और प्रज्ञा दी की आत्मा को शांति देना ...और हो सके तो स्वर्ग में एक आत्मीय रंगमंच भी। नहीं तो खाली स्वर्ग का भला क्या उपयोग!

स्मृति शेष

ब्रजेश अनय

अपनी ज़िद पर कायम

अपनी मृदु वाणी और मौलिक चिंतन के लिए एक अलग छवि बनाने वाले, संस्कृतिकर्मी, आशी मनोहर (मनोहर आशी) मुंबई से भोपाल आते समय ट्रेन में ही दुनिया-ए-काफी को चुपचाप अलविदा कह गये। प्रोस्टेट कैंसर से ग्रस्त आशी पिछले काफी समय से अस्वस्थ थे एवं भोपाल के एक निजी अस्पताल में भी वे लगभग दो माह भर्ती रहे।

लगभग पंद्रह साल (सन् 95) पहले 'मंचराग' से हुई चर्चा में संस्कृति क्षेत्र के विभिन्न पहलुओं पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये थे, जिसमें निराशा कम और आक्रोश ज्यादा था। शायद इसीलिए उन्होंने कहा था, ''नाशुक्रों का शहर है.....भोपाल....।'' सत्तर-अस्सी के दशक के मध्य में उन्होंने शहर में पहली बार बच्चों का सालाना 'नाट्य-समारोह करना शुरू किया था, और शायद तभी से नाट्य समारोह जैसा शब्द प्रचलन में आया। हाँ, कला-परिषद् का सालाना 'नाट्योत्सव' जरूर दिसंबर में हुआ करता था।

'बखतराम' बाल नाट्य समारोह बंद क्यों हुआ, क्या उसके रिटर्न्स मिल गये थे या मिलने शुरू हो गये थे के जवाब में उनका कहना था कि समयाभाव के कारण आयोजित नहीं कर पाये। जहाँ तक रिटर्न्स की बात है, भोपाल में क्या किसी को मिले हैं, नहीं मिलते, नाशुक्रों का शहर है भोपाल...। शहर में अपनी सक्रियता के बारे में उनका कहना था कि, ''समाधिस्थ हूँ, अभी सन्यास नहीं लिया है, दिलीप कुमार, अमिताभ बच्चन (उस समय अमिताभ पाँच साल के अवकाश पर थे) को क्या आप सन्यासी कहेंगे। बेहतर प्रोजेक्ट ही मुझे 'कामी पुरुष' बनाता है। रंगकर्म के साथ ही फिल्म निर्माण में भी उनका काफी दखल था। प्रसिद्ध नृत्यांगना मल्लिका साराभाई के साथ उन्होंने रंगमंच और फिल्म के कई महत्वाकांक्षी प्रोजेक्ट किये। अपने आपको रंगकर्मी या फिल्मकर्मी माने जाने के सवाल पर उनका कहना था— ''मैं सृजनधर्मी हूँ...। दोनों क्षेत्रों में मेरी विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं।'' जो रंगकर्मी, रंगमंच और फिल्म दोनों क्षेत्रों में सक्रिय हैं, और रंगमंच को फिल्म, और फिल्म को रंगमंच की तरह 'ट्रीट' करते हैं, के बारे में उनका कहना था कि 'मैं क्रिकेट के मैदान में क्रिकेट और हॉकी के मैदान में हॉकी खेलने और हॉकी में क्रिकेट बैट से नहीं खेल सकते आप। इसके लिए अज्ञानी पक्षपाती और बेईमान अंपायरों, रेफरियों को भी बदलना होगा।''

वहीं, उन्हीं दिनों शुरु हुए भोपाल दूरदर्शन, और उसके पीछे भागते संस्कृतिकर्मियों ने उसे 'भोंदू' कहना शुरू कर दिया था। उनका कहना था कि भोंदू, 'भोंदू' नहीं है, उस बक्से का कोई दोष नहीं है, गिलास में दूध पियें या शराब, यह तो प्रकृति और पसंदगी का मामला है। भारत में ही शराब बेचने वालों के बीच डॉ. कुरियन ने कोई छोटी क्राँति नहीं की पूरे देश में दूध की नदियाँ बहने लगीं। 'थियेटर' अमृत है, इसका महत्व कभी, किसी देश में कम नहीं हुआ और न होगा। भोपाल में, रंग मंच को, दूरदर्शन ने नहीं, रंगमंच के अधकचरे मसीसाओं ने ही मारा है। टेलीविजन बेहतर नाट्य प्रस्तुतियों का मोहताज जरूर हो सकता है, लेकिन थियेटर टेलीविजन का मोहताज नहीं है। अपने गिरेबाँ में झाँकें और रंगमंच को बेहतर और समर्थ बनाने की दिशा में, कारगर पहल करें। जिम्मेदारी का ईमानदारी से निर्वाह करें।''

इसी सिलसिले में उनके द्वारा निर्देशित नाटक 'अष्टनायिका' पर भी चर्चा हुई थी, जिसमें आठ लड़कियाँ (अभिनेत्रियाँ) मुख्य भूमिका में थीं। आज भी जब थियेटर में लड़कियों का 'टोटा' है, तो 80 के दशक की

स्थिति आप समझ सकते हैं। उस समय आठ लड़कियों को लेकर (वह भी केंद्रीय भूमिकाओं में) नाटक करना एक बड़ा दुस्साहस माना गया लेकिन जैसा कि होता है, कुछ 'विघ्न संतोषियों' और 'दिल जलों' ने उसे 'कष्टनायिका' नाम दे दिया और असफल घोषित किया। मनोहर आशी को भी यह मालूम था, उनका कहना था कि अष्टनायिका एक नृत्य-नाट्य-प्रस्तुति नहीं, अनुष्ठान थी, यह एक सफल प्रस्तुति थी, जिसके पाँच प्रदर्शन हुए। तत्कालीन राज्यपाल का उद्‌बोधन लोग भूले नहीं हैं, मुझे रंग जगत से किसी प्रमाण-पत्र की जरूरत नहीं है। पढ़ा-लिखा, समझदार ही इस (अष्टनायिका) को समझ सकता है। धर्मान्ध, अपढ़ और पूर्वाग्रही के लिए यह कृति 'कष्टनायिका' ही हो सकती है। क्या था उस कृति में? कुछ तो था, जो उसके मंचन के पाँच साल बाद भी आप उस पर सवाल पूछने के लिए विवश लालायित हैं।'

चूँकि मूलतः वे एक व्यापारिक खानदान से थे, लेकिन व्यापारी होने के बावजूद उन्होंने रंगमंच को तरजीह दी, जिसका घर में काफी विरोध हुआ लेकिन बाद में समर्थन भी मिला, इस कारण वे काफी अच्छे आयोजक भी थे जिसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं - 'बखतराम बाल नाट्य समारोह'। इसके अलावा भी नाट्य समारोहों का वे आयोजन करते रहते थे। प्रसिद्ध रंगकर्मी ब्रजमोहन शाह को उन्होंने दिल्ली से बुलवाकर 'त्रिया-चरित्र' नामक नाटक सन् 77 में करवाया था जिसमें अशोक बुलानी और बानी शरद (शरद जोशी की बेटी) भी थे। मनोहर आशी के बारे में रंगकर्मी अशोक बुलानी जिन्होंने उनकी फिल्म 'अकबर ब्रिज' में भी अभिनय किया, कहते हैं- ''धुनी आदमी थे वे, हरफनमौला, काम करने की ललक थी उनमें, किसी भी काम को करने में पूरे मन से जुट जाते थे, इच्छायें बहुत थीं उनमें। एक ग्रुप हुआ करता था उनका। हम लोग ग्वालियर से ट्रांसफर होकर आये थे- 'ताजा-ताजा', उनके ग्रुप में शरद जोशी, रामप्रकाश त्रिपाठी, राजेश जोशी जैसे लोग थे, बाद में राजकुमार केसवानी भी उनके ग्रुप में जुड़ गये।'' और शायद इसी कारण अपनी धुन में मगन मनोहर आशी ने दुनियादारी, दुकानदारी के बजाय 'चिड़िया की आँख' की तरह हमेशा अपनी लीक पर चलते हुए अपने काम से काम रखा।

पिछले कुछ दिनों से भोपाल में फिल्मों की शूटिंग का चलन काफी बढ़ गया है जो उस समय (लगभग 90 में) से शुरू हो चुका था। स्थानीय कलाकारों को बतौर 'बंधुआ मजदूर' इस्तेमाल होने पर उनका कहना था कि मानसिक दरिद्रता और मृगतृष्णा ही अभिनयकर्मी को 'बंधुआ मजदूरी' के लिए विवश करती है। आप अपनी श्रेष्ठता को पहचानें। बहुत ही दृढ़ होकर उन्होंने कहा था- ''....और फेंके गये टुकड़े को अस्वीकारने का साहस जुटायें, तब कोई शोषण नहीं कर पायेगा।''

वहीं उनके साथ कई प्रोजेक्ट्स में (रंगमंच/फिल्म) सहयोगी रहे सृजनकर्मी शशिधर कपूर (जो इस वक्त दिल्ली में हैं) का कहना है कि भोपाल में स्वतंत्र फिल्म निर्माण करने में अग्रणी थे वे, बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, शासकीय संस्थाओं की (फिल्म निर्माण करने वाली) बात अलग है। उनका अपना अलग एक स्टेटस था, साहित्यिक कृतियों पर काम करने का, चाहे वह 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' हो, 'अकबर ब्रिज' हो या चेखव की कोई कृति। और उसमें भी उनका विशेष झुकाव था- महिला विमर्श पर जिस पर उन्होंने काफी काम किया। अखबार भी निकाला उन्होंने। वे हर चीज पर बड़ी बारीकी से काम करते थे, चाहे वह फिल्म की डिजाइन/प्रेजेंटेशन (परिकल्पना)/प्रस्तुतिकरण) हो या एक छोटे से इंवीटेशन कार्ड (आमंत्रण-पत्र) को परिकल्पित करना। बड़ी गंभीरता और बारीकी से और तन्मयता से वे ये काम किया करते थे।''

ऐसे गुपचुप काम करने वाले बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे- मनोहर आशी। भविष्य की योजनाओं के बारे में उनका विचार था कि ''...मैं बेहतर थियेटर/सिनेमा का पक्षधर हूँ। हमने एक ट्रस्ट की स्थापना की है- 'दिगंत रंगसंधान फाउंडेशन फॉर डेवलपमेंट।' थियेटर-सिनेमा के अच्छे प्रस्ताव को हम निश्चित ही, अपना विनम्र सहयोग प्रदान करेंगे। आर्थिक सहयोग भी दे सकते हैं।''

कोई भी सृजनकर्मी-संस्कृतिकर्मी चाहे वह छोटा हो या बड़ा, नामचीन हो या गुमनाम, अपने शहर की (किसी भी शहर में) सांस्कृतिक यात्रा/विरासत/विकास में उसके योगदान का एक अंश जरूर रहता है। ऐसे ही अवदानी थे मनोहर आशी।

प्रतिकार की असरदार पहल

भालचन्द्र जोशी

'अंबेडकर और गांधी'

रायपुर में 14वाँ मुक्तिबोध राष्ट्रीय नाट्य समारोह

जो लोग रंगमंच की दुनिया में चले जाते हैं फिर उससे चाहे दूर हो जाएँ लेकिन मुक्त नहीं हो पाते हैं। रंगमंच एक नशे की तरह है। एडिक्शन होता है। हिन्दी रंगमंच को लेकर ऐसी दीवानगी अनेक लोगों में है। रायपुर की 'इप्टा' इकाई में सुभाष मिश्र और उनके साथी पिछले चौदह सालों से मुक्तिबोध राष्ट्रीय नाट्य समारोह कर रहे हैं। चौदह सालों की निरंतरता ऐसी दीवानगी के बगैर मुमकिन नहीं है। खासकर तब, जब समारोह लगभग सप्ताह भर का होता है और जिसमें देश के महत्वपूर्ण रंगकर्मी, स्व. हबीब तनवीर, एम.एस. सथ्यू, रंजीत कपूर, देवेन्द्रराज 'अंकुर', दिनेश ठाकुर, नादिरा बब्बर, उषा गांगुली, सलीम आरिफ, अलखनंदन, के.एम. राजेन्द्रन, जावेद अख्तर, अरविंद गौड़ आदि की भागीदारी रहती आई है। इतने नामचीन निर्देशकों के साथ अंजन श्रीवास्तव, राकेश बेदी, सुलभ आर्य, जूही बब्बर, दिनेश ठाकुर आदि ऐसे कलाकार भी जुड़े होते हैं जो थियेटर के साथ फिल्म और टेलीविजन के ख्यात चेहरे हैं।

महानगरों की अपेक्षा छोटे-छोटे शहरों में इसी कारण से नाट्य समारोह के लिए चुनौतियाँ भी बढ़ जाती हैं। टेलीविजन के सामने से उठकर आए रंगीन-रुचि के दर्शकों की इसी तरह के आकर्षक कलाकारों की उपस्थिति के कारणों को लेकर अपेक्षाएँ स्थाई जगह बनाने लगती हैं। कई बार यह खतरे भी बढ़ जाते हैं कि इस तरह फिल्म या टेलीविजन के चर्चित कलाकारों की प्रस्तुति दूसरे अपेक्षाकृत अचर्चित लेकिन गंभीर नाट्य प्रस्तुति को क्षति पहुंचा सकती है क्योंकि नाटक और दर्शकों के अंतर्सबंध अंततः उपस्थिति की धूरी की अदेखी नहीं कर सकते हैं।

हिन्दी का गंभीर रंगकर्म पहले ही घोर व्यवसायिक रंगकर्म से संघर्ष कर रहा है। सातवें या आठवें दशक के बाद बीच का एक ऐसा दौर भी आया था जब हिन्दी रंगकर्म किंचित संकट में था। जबकि उस दौर में टेलीविजन के आक्रमक आगमन को कोसा गया लेकिन अब इस बात को स्वीकार करना पड़ा कि संकट की जड़ें टेलीविजन के आक्रमण आगमन में नहीं बल्कि बाजार के हिंस्त्र लेकिन आकर्षक आगमन में थीं। रंगकर्म के रास्ते फिल्मों और टेलीविजन की ओर मुड़ने की उतनी नहीं थी जितनी बाजार के छलावे में रंगकर्म के फँसने की थी। इसीलिए रंगकर्म का अर्थशास्त्र भी बदला। बदले हुए अर्थशास्त्र ने रंगकर्म की प्राथमिकताएँ बदलने का काम भी किया। जाहिर है कि ऐसे में श्रम और समर्पण प्रभावित हुआ।

हालाँकि ख्यात नाट्य निर्देशक सलीम आरिफ बाजार को सकारात्मक देखते हैं। उसमें बड़े परिवर्तन की सकारात्मक संभावना की आहट महसूस करते हैं। दिल्ली में मल्टीप्लेक्स की तर्ज पर थियेटर की शुरुआत की संभावना बन गई है जिसमें बताया जाता है कि टिकट दर एक हजार रुपए से शुरू होगी। सलीम आरिफ मानते हैं कि ये थियेटर की प्रोग्रेस है। इन आकर्षक सी लगने वाली संभावना में वे थियेटर का मजबूत होता आर्थिक आधार भी देख रहे हैं। किंचित अचरज की बात तो यह है कि इसी में वे थियेटर की भिन्न लोकप्रियता

थियेटर का दर्शक ज्यादा गंभीर और प्रतिबद्ध है जिनकी संख्या महानगरों में अपेक्षाकृत कम है और जो संख्या में ज्यादा हैं रंगकर्म वहाँ से उन्हें बेदखल करके सम्पन्न मनोरंजन के लिए जगह बनाएगा।

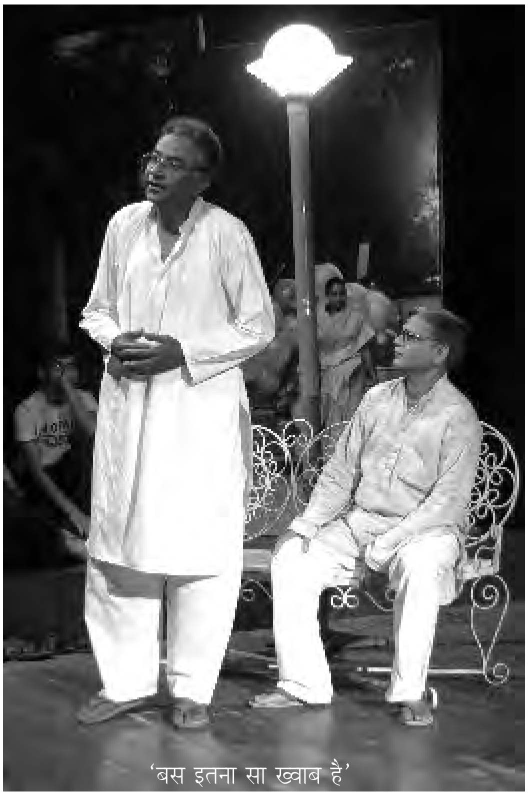

'बस इतना सा ख्वाब है'

की संभावना भी देखते हैं। सुप्रसिद्ध रंगकर्मी और अभिनेत्री लुबना सलीम तो इस बदलाव की संभावना से काफी उत्साहित भी हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि वे इस बाजार समय के अर्थशास्त्र से उत्साहित हैं और थियेटर के संदर्भ में इसे रंगकर्मियों के फिल्मों या टेलीविजन की ओर पलायन को हतोत्साहित करने वाला कारक समझती हैं। विस्मय की बात तो यह है कि सलीम आरिफ जो खुद एन.एस.डी. से आए हैं और 'भारत एक खोज' जैसे गंभीर धारावाहिक तथा 'माचिस' और हु तू तू' जैसी गंभीर फिल्मों के सह निर्देशक रह चुके हैं तथा लुबना सलीम को इप्टा को अपना पहला घर मानती हैं, दोनों का गंभीर थियेटर और दर्शकों के अंतर्संबंधों की आधारभूमि की ओर ध्यान नहीं गया। जैसे महानगरों को छोड़ दें तो दूसरे माध्यम या छोटे शहरों के दर्शकों का रुझान मल्टी प्लेक्स की ओर नहीं है ठीक उसी तरह थियेटर के दर्शकों का हश्र होगा।

महत्वपूर्ण तथ्य तो जबकि इसमें यह भी है कि थियेटर का दर्शक ज्यादा गंभीर और प्रतिबद्ध है जिनकी संख्या महानगरों में अपेक्षाकृत कम है और जो संख्या में ज्यादा हैं रंगकर्म वहाँ से उन्हें बेदखल करके सम्पन्न मनोरंजन के लिए जगह बनाएगा।

बहरहाल फिर भी महत्वपूर्ण यह है कि रायपुर का मुक्तिबोध राष्ट्रीय नाट्य समारोह फिल्मों या टेलीविजन के आकर्षक और चर्चित कलाकारों की उपस्थिति के बावजूद अपनी प्रतिबद्ध जमीन पर मौजूद है। इन कलाकारों या रंगकर्मियों की उपस्थिति मनोरंजन के रंगीन तड़के की भाँति नहीं है बल्कि रंगकर्म के गंभीर आस्वाद की जरूरी उपस्थिति है। यदि ऐसा न होता तो सलीम आरिफ के 'कच्चे लम्बे' की प्रस्तुति (दिनांक 16 नवम्बर 2010) जिसमें हर्ष छाया, किरण करमाकर और लुबना सलीम जैसे टेलीविजन के लोकप्रिय कलाकारों की उपस्थिति थी और अपनी सफल प्रस्तुति के बावजूद वसंत काशीकर की प्रस्तुति 'मानबोध बाबू' और अजय कुमार का नाटक 'एक लड़की पाँच दीवाने के बहाने' (17 नवम्बर 2010) पर इसका प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। अजय कुमार बहुत प्रतिभाशाली निर्देशक हैं। वे समग्र प्रभाव के हामीदार हैं और उनका नाट्यकौशल अपनी प्रस्तुति के समग्र प्रभाव में प्रकट होता है। वे प्रस्तुति की सामान्य-सी बातों की भी अदेखी नहीं करते हैं। हरिशंकर परसाई की कहानी की इस नाट्य प्रस्तुति को उन्होंने एक भिन्न ढंग में प्रस्तुत किया है। व्यंग्य का एक अदृश्य धागा पूरे रंगमंच पर इस तरह बना रहे कि आखिर में उसी पर ध्येय को बाँधा जा सके।

आयोजन की शुरुआत 13 नवम्बर 2010 को अशोक मिश्र द्वारा उद्‌घाटन किये जाने से हुई थी। इसी दिन बिहार (पटना) की अहुती नाट्य अकादमी ने मुक्तिबोध की कहानी का नाट्य मंचन समझौता प्रस्तुत किया और दिल्ली के त्रिपुरारी शर्मा की 'रूप अरूप' की नाट्य प्रस्तुति थी।

14 नवम्बर को दिल्ली के अस्मिता थियेटर ग्रुप ने अरविंद गौड़ के निर्देशन में 'अंबेडकर और गाँधी' की प्रस्तुति को दर्शकों की बेहद सराहना मिली। अरविंद गौड़ बहुत प्रतिबद्ध और समर्पित रंगकर्मी हैं। वे हॉल में नाट्य प्रस्तुति से पहले थियेटर के बाहर नुक्कड़ नाटक भी करते हैं। वे नाटकों में रमे रहने वाले व्यक्ति हैं। अंबेडकर और गाँधी के परस्पर संबंधों, संवाद और विमर्श की जोखिम भरी व्याख्या और वर्णन साहित्य लेखन में भी बहुत सावधानी के साथ हुआ है। मसला सिर्फ राजनीतिक नहीं है बल्कि एक ही राजनीतिक विचारधारा और जन आस्था का सम्मान करने के बावजूद दोनों राजनेताओं के निर्णय किंचित भिन्न बिन्दुओं पर मिलते थे। तनिक भी असावधानी किसी एक को इस तरह खलनायक बना सकती है कि उसकी प्रतिबद्धता ही खतरे में पड़ जाएगी।

अरविंद गौड़ ने ऐसे जटिल विषय को बहुत सहज प्रस्तुति दी है। एक निर्देशक की सफलता ही इसी में निहित होती है कि वह जटिल और सूक्ष्म बंधों को इतनी सहजता से खोले कि अहितकर सरलीकरण सामने न आए। नाटक की आंतरिक संरचना को क्षति पहुंचाए बगैर सामान्य दर्शकों की संवेदना से भी रिश्ता कायम कर ले, यह एक कठिन नाट्य कौशल है जिसे अरविंद गौड़ ने साध लिया है।

अरविंद गौड़ की एक और प्रस्तुति 15 नवम्बर को भी 'एक मामूली आदमी'। अशोकलाल लिखित यह नाटक एक मामूली आदमी की उस संघर्ष की कथा है जो तेजी से भ्रष्ट हो रही व्यवस्था के मूल्यों को बचाने के लिए जाति और समाज की सक्रिय अवहेलना करता है। अपने संघर्ष को अपनी मृत्यु के साथ वह गंदी बस्ती के लोगों की विजय में बदल देता है। नाटक की प्रस्तुति और खासकर 'अंबेडकर और गाँधी' की तरह इसमें भी लगभग सभी कलाकारों का अभिनय उम्दा है। निर्देशकीय कौशल और चुस्त अभिनय ने ही कुछेक जगहों

पर लेखकीय कमजोरियों की भी देखभाल की है। वर्ना चौकीदार द्वारा कही गई बातें बहुत गंभीर और भारी भरकम होने के साथ ही दृश्य को असहज भी कर रही थी। अरविंद गौड़ रोशनी का बेहद कम और संतुलित इस्तेमाल करते हैं। जबकि सलीम आरिफ प्रकाश संयोजन को लेकर बहुत सतर्क रहते हैं। चूँकि सलीम आरिफ के साथ फिल्मों और टेलीविजन का अनुभव भी जुड़ा है जहाँ आर्कलैम्प्स भी कलाकारों की भाँति महत्वपूर्ण भूमिका में होते हैं इसलिए वे कलाकारों और दृश्य की मदद के लिए रोशनी का इस्तेमाल सतर्कता की इस हद तक करते हैं कि नाटक का दृश्य फिल्म के दृश्य में तब्दील होता नजर आता है।

15 नवम्बर को भोपाल 'त्रिकर्षि' की प्रस्तुति श्रीकांत आप्टे लिखित नाटक 'बस इतना सा ख्वाब है' की थी। के.जी. त्रिवेदी के इस नाटक में आम आदमी की त्रासदी की मार्मिक अभिव्यक्ति है जिसमें छोटी-छोटी जरूरतों और उससे बढ़कर उन इच्छाओं की हत्या होते जाना है जिसमें किसी बड़ी आर्थिक व्यवस्था की दरकार नहीं होती है। रिटायर क्लर्क पार्क में घूमते हुए अपने अफसर को बरमूडा और टी-शर्ट पहने देखकर खुद भी यह इच्छा पालने लगता है कि मैं इस तरह हाफपैंट और टी-शर्ट पहनकर घूमने जाऊँ। इन सबमें उसके मित्र का आग्रह तो शामिल रहता है लेकिन खुद उसके संस्कार और परिवार के निम्न मध्यमवर्गीय मूल्य आड़े आ जाते हैं। परोक्ष में किए ऐसे जिक्र मात्र से परिवार न सिर्फ हँसी उड़ाता है बल्कि कड़ा ऐतराज भी जाहिर करता है। उनके लिए एक उम्रदराज व्यक्ति की ऐसी वेशभूषा अकल्पनीय और निंदनीय है। हालांकि बाजार के बढ़ते प्रभाव के कारण अब निम्न मध्यवर्ग में भी मूल्य टूट रहे हैं और ऐसे कपड़े पहनना कोई अजीब या बेहद बुरी बात नहीं रह गई है लेकिन बावजूद इसके कलाकारों के अभिनय और चुस्त निर्देशन ने इस असहजता तक दर्शकों की संवेदना को पहुंचने नहीं दिया।

16 नवम्बर को सलीम आरिफ की प्रस्तुति 'कच्चे लम्हे' गुलजार की कहानी पर आधारित थी। चुस्त लेखन और दक्ष निर्देशन के साथ ही उम्दा कलाकारों की उपस्थिति ने इस नाटक को सफल बना दिया। सलीम आरिफ प्रस्तुति में बहुत छोटी-छोटी चीजों और बातों को भी बेहद अहमियत देते हैं। प्रापर्टी के चयन और जमावट से लेकर कलाकारों की मंच पर चहल-कदमी तक का ध्यान रखते हैं। पार्श्व के संगीत और प्रकाश संयोजन के बीच अद्‌भुत संतुलन होता है। सलीम मंच को कथा संदर्भ से इतना जोड़ते हैं कि मंच अपनी ओर से प्रस्तुति सहायक हो जाता है।

अंतिम दिन रायपुर इप्टा की प्रस्तुति 'हवाओं में रहेगी ख्यालों की बिजलियाँ' उदयप्रकाश की कहानियों पर आधारित थी। निर्देशक मिनहाज अहमद इप्टा के पुराने रंगकर्मी हैं। उदयप्रकाश की कहानियाँ 'वारेन हेस्टिंग का सांड' और 'पाल गोमरा का स्कूटर' को केन्द्र में रखकर लिखा गया यह नाटक नाटकों के प्रति मिनहाज की रुचि को स्पष्ट करता है। इस तरह की प्रस्तुति से स्थानीय रंगकर्म की रुचि को भी जिंदा रखा जा सकता है।

निरंतर चौदह सालों से रायपुर में इस तरह के आयोजन होना अपने आप में एक बड़ी घटना है। सुभाष मिश्र को नाटकों का जुनून है। नाटकों की उन्हें गहरी समझ, रुचि और उसके प्रति समर्पण है। सुभाष और इप्टा के उनके साथियों की जिद, समर्पण और अदम्य इच्छा शक्ति के चलते ही रायपुर जैसे औद्योगिक अभिलाषा के शहर में इस तरह के आयोजन कर रहे हैं बल्कि पिछले चौदह सालों से उसकी सफलता भी कायम है। इस वर्ष तो नाट्य प्रस्तुति के साथ ही नाट्य लेखन को लेकर एक संगोष्ठी का आयोजन भी था जिसमें प्रदेश भर के बुद्धिजीवियों के साथ रंगकर्मियों ने भी हिस्सा लिया। नाट्य प्रस्तुति के बाद रात को रंगकर्मी अपने-अपने प्रांतों के लोकगीत भी सुनाते हैं।

रायपुर इप्टा का यह आयोजन सिर्फ नाट्य लगाव भर नहीं है, सुभाष मिश्र इसे बाजार समय में अकेले पड़ते जा रहे विचार की जरूरी संगत मानते हैं। वे इस कठिन समय में, विडम्बनाओं और अव्यवस्था से प्रतिकार और संघर्ष का एक अनिवार्य और असरदार माध्यम मानते हैं।

'ज़िंदा है सुकरात'

रंगकर्मी सतीश मेहता की नाट्य कृति का लोकार्पण

पिछले दिनों हिन्दी भवन भोपाल के महादेवी वर्मा कक्ष में वरिष्ठ रंगकर्मी प्रो. सतीश मेहता की नाट्य कृति 'जिंदा है सुकरात' का लोकार्पण आलोचक प्रो. रमेश ने किया। इस मौके पर चिंतक रामेश्वर मिश्र 'पंकज', म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के महामंत्री कैलाश चंद्र पंत, कथाकार व नाटककार सुरेशचंद्र शुक्ल ने विमोचित कृति पर समीक्षात्मक टिप्पणी की।

अध्यक्षीय उद्‌बोधन में प्रो. दवे ने कहा कि नाटक आज की सशक्त प्रयोगशील विधा है। नाटक मानवीय आकार की कृति है। जहाँ अभिनेता को सामान्य जीवन से ऊपर उठने का अवसर मिलता है। 'जिंदा है सुकरात' की खूबी यह है कि इसके अंकों व दृश्यों में विभाजन नहीं है। साथ ही संवाद तथा अभिनय की निरंतरता है। वाचिकता का बेहतर निर्वाह है। कार्यक्रम के मुख्य वक्ता पंत ने सुकरात के जीवन संघर्ष का जिक्र करते हुए कहा कि जब-जब किसी विचार को कुचलने-दबाने की निरंकुश कोशिश की गई तब-तब वो विचार महान बना है। उन्होंने कहा कि रंगमंच आदिम संस्कृति का हिस्सा है जहाँ विचार और संदेश की सत्ता सदा कायम रहती है। आज संदेशप्रद नाटकों की खासी जरूरत है।

मुख्य अतिथि पंकज ने कहा नाटक में संपूर्ण मानवीय परिवेश व्यक्त होता है। उन्होंने कहा सामाजिक व राजनैतिक अव्यवस्था के खिलाफ नाटक के जरिए आम आदमी को बदलाव के लिए आंदोलित किए जाने की बात बेमानी है। इसके शीर्ष सत्तापक्ष और अफसरशाही ही उत्तरदायी है जिसे अपना चरित्र बदलना होगा। शुक्ल ने समीक्षात्मक टिप्पणी करते हुए कहा कि यदि पहले इस नाटक का मंचन होता तो उसे ज्यादा परखने का अवसर मिलता। प्रो. मेहता ने नाटक के भाव परिवेश और अपने इस सृजन की जरूरत को लेकर विचार रखे। संचालन कथाकार युगेश शर्मा ने किया। स्मित मेहता और नाट्य संस्था 'प्रयोग' के कुछ कलाकारों ने नाटक के कुछ अंश भी प्रस्तुत किए।

वसंत सकरगाए

आस्वाद और आकलन

हस्तिनापुर

देश-काल का पुनर्पाठ

रेखा कस्तवार

नंदकिशोर आचार्य द्वारा लिखित और भोपाल के सक्रिय युवा रंगकर्मी के.जी. त्रिवेदी द्वारा निर्देशन के बहाने बार-बार पेश की जाती कृति 'हस्तिनापुर' का दर्शक होना, विचलित करने वाला अनुभव है। यह नाटक आज के प्रश्नों के लिए महाभारत और महाभारत के प्रश्नों को आज के संदर्भों से संयुक्त कर एक बड़े केनवास का सृजन करता है। इस बड़े फलक वाले केनवास को यह बेहतर स्ट्रोक से न केवल संयोजित करता है, वरन सजीव भी।

नाटक के केन्द्र में स्त्री प्रश्न हैं, जो प्रकटतः सत्यवती, अम्बालिका-कुन्ती और काल्पनिक पात्र 'शुभा' के हैं, वहीं पार्श्व में अम्बा अम्बालिका और गांधारी की नियति भी अन्यर्यात्रा करती है। आज की स्त्री की कहानी सामानान्तर धारा की तरह अनुस्यूत है। नाटक महाभारत कालीन महिमा मण्डित तथा 'भीष्म प्रतिज्ञा को केन्द्र भीष्म (देवव्रत द्वारा) ब्रह्मचर्य का स्वीकार्य और अपने भविष्य में अपने और अपनी सन्तति द्वारा राजगद्दी का अस्वीकार्य करने आप में गलत निर्णय था; जिसे मिथकीय परम्परा और साहित्य में महिमा मण्डित किया जाता रहा है। अपनी 'भीष्म प्रतिज्ञा' को बचाए रखकर भीष्म ने आने वाले समय में जिन स्त्रियों के जीवन को नरक तुल्य बनाया, नाटक 'हस्तिनापुर' उन जीवन प्रसंगों पर उंगली रखता है। पृष्ठभूमि में अम्बा का प्रेमी शव्य और विजेता भीष्म द्वारा ठुकराया जीवन और मृत्यु की नियति है, वहीं मंच पर अम्बालिका का व्यवस्था के नाम पर छला जाना नियोग प्रथा के माध्यम से व्यक्त होता है। भीष्म के लिए अम्बालिका के मन में प्रेम का प्रस्फुटन नाटककार की मौलिक कल्पना है जो द्विवर-देवर के अधिकारों और कर्तव्यों से सम्पुष्ट होती है। इसीलिए स्वाभाविक तौर पर 'नियोग' के परिपालन हेतु यह देवर भीष्म की ही कल्पना करती और मानसिक तौर पर तैयार भी होती है उसका सामना जब देवर के रूप में सत्यवरीत की कौमार्य की सन्तान 'कृष्ण द्वैपायन' से होता है, उसका विचलित होना स्वाभाविक

में रखते हुए उसके कारण होने वाले महायुद्ध की विभीषिका को केन्द्र में नहीं रखता। हाशिए पर छूट गई या संकेतों में व्यक्त होती उन स्त्रियों की त्रासदी को केन्द्र में लाता है जिनका जीवन भीष्म-प्रतिज्ञा के कारण विचलित, व्यथित और अन्ततः त्रासद अन्त की ओर अग्रसर हुआ। हाशिए की यह कथा जो महाभारत में शामिल होते हुए भी शामिल नहीं थी 'हस्तिनापुर' का कथ्य रचती है।

सतह से देखने पर मिथकीय रचनाओं में व्यवस्था के खिलाफ किन्चित प्रतिरोध की कथा प्रतीत होती है किन्तु 'हस्तिनापुर' में यह कथा स्त्रीमन उनकी प्रतिक्रियाओं, अन्तर्द्वन्द्वों की वह कथा है जहाँ प्रत्यार्पण से पूर्व विवेकवान, विचारवान स्त्री अपनी क्षमता भर जद्दोजहद करती है। भीष्म प्रतिज्ञा और उससे उपजे नियोग के प्रश्न के बहाने स्त्री की समझी जाने वाली हैसियत पर सवालिया निशान लगाती है। पिता शान्तनु की वार्धक्य की वासना पूरी करने के लिए युवा युवराज है। नाटककार, निर्देशक, पात्र मिलकर इस बेचैनी को - बेचैनी के बहाने स्त्रीमन को सृजित और बेहतर ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। जिस स्त्री के नियोग के लिए पुरुष सत्ता द्वारा अनचाहे पुरुष के सामने ढकेल दिया जाता है उस स्त्री के अन्तर्द्वन्द्व को दृश्यमान करने में नाटक बेहद सफल रहा है। सम्भोग एक शारीरिक क्रिया नहीं, पाशविक प्रक्रिया नहीं। मन के तल पर उसकी कई परतें होती हैं जिन्हें बहुत संवेदनशीलता और कोमलता से रेशे-रेशे खोलना होता है। तब सार्थक होते हैं देह के रिश्ते जैसे शुभा और कृष्ण द्वैपायन के मिलन में सम्भव हुआ- जिसे बहुत प्रयोग धर्मी होकर कौशल के साथ निर्देशक ने अभिव्यक्त होने का मौका दिया। लेकिन व्यवस्था के ठेकेदारों द्वारा तय किए गए नियोग में परोस दी गई स्त्री के साथ सम्भोग में वह सम्भव नहीं हो सकता। अम्बालिका का चरित्र बहुत मारक ढंग से इसे व्यक्त करता है। नाटक बार-बार रेखांकित करता है कि हमारी परम्परा स्त्री को

'खेत' के रूप में व्याख्याति करती है जिसका मालिक उसका पति होता है वह चाहे जीवित हो या मृत 'खेत' मालिक की सम्पत्ति है।

इस खेत में किस का बीज बोया गया, महत्वपूर्ण नहीं। हमारी परम्परा तो खेत के मालिक की सत्ता का शंखनाद करती है, खेत और बीज की भला क्या द्वयता? क्या नियोगरत स्त्री-पुरुष को खेत और बीज से व्यक्त करना अमानवीय और मशीनी नहीं? प्रश्न हमें अपने युग में भी लाता है और वीर्य बैंक की व्यवस्था पर प्रश्नाकुल होने का वक्त सौंपता है। पुरुष सत्ता की मर्जी वाले नियोग में स्त्री की मनःस्थिति की अभिव्यक्ति के समानान्तर कुन्ती के मनमर्जी के नियोग के पक्ष को भी नाटक बहुत मर्मस्पर्शी ढंग से रखता है। स्त्री के आनन्द से जन्मी सन्तान और थोपे हुए रिश्तों से जन्मी सन्तान का भेद श्रेष्ठ पाण्डवों और अंधे धृतराष्ट्र बीमार पाण्डु के व्यक्तित्व के अन्तर से सामने लाता है।

नाटक इस बड़े प्रश्न को भी विचार में लाता है कि पुरुष द्वारा थोपा गया नियोग समाज में सम्मान पाता है और सभी का मनचाहा नियोग वंशावली से बेदखली। कुरुवंशी 'कौरव' धृतराष्ट्र की सन्तान ही स्वीकारे गए। कुन्ती की सन्तान लम्बी वंशावली की जड़ों से काट दिए गए। उन्हें सिर्फ अपने पिता के नाम से ही जाना गया। शास्त्र सम्मत व्यवस्था में सभी का मनचाहा जी लेना कितना मुश्किल और अन्तर्विरोध भरा है, नाटक इसे अभिव्यक्त करने में सफल रहा है, दासी शुभा के पुत्र के वंश से बहिष्कार के बहाने विवाह संस्था से बाहर खड़ी स्त्री की नियति, अपनी मर्जी की सन्तान को अधिकार विहीनता का प्रश्न और उनके अन्तर्विरोध भीष्म, सत्यवादी से शुभा के सवालों-संवादों में बहुत प्रभावी ढंग से व्यक्त होते हैं। अपने सटीक मंचन द्वारा भीष्म और उसकी ऐजेण्ट सत्यवती की चालाकियाँ और राजनीतिक मन्तव्यों का पर्दा फाश करते हुए उन्हें निरुत्तर करते हैं दर्शक को उद्वेलित भी। स्त्री के सहज व्यक्तित्व को नकारती व्यवस्था में, स्त्री की विवशता का आख्यान, स्त्री की अपनी तलाश स्पेस के लिए उसकी बेचैनी और अपने छले जाने को पहचानते और व्यक्त करने का सफल माध्यम रही है, ''हस्तिनापुर''। व्यवस्था के चक्र में कुचली जाती स्त्री यहाँ एक बार तो अपना अन्तस खोलती है, यह वह समझती बूझती स्त्री है, जिसका प्रतिरोध दर्ज करना नाटक का मन्तव्य है। यह और बात है कि वक्त की जकड़बन्दी उसे मुक्त नहीं कर पाती। बावजूद इसके वह व्यवस्था को बौखलाती है, कई बार निरुत्तर भी करती है- हमारे वक्त को भी।

इस उलझे हुए कथानक को जो सवाल-दर-सवाल पैदा करता है- मंचित करना आसान नहीं था। के.जी. त्रिवेदी का 'हस्तिनापुर' इसे न केवल सम्भव बनाता है, प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत भी करता है। शुभा के कल्पना सम्मत पात्र को सूत्रधार की तरह इस्तेमाल कर महाभारत के लम्बे कालखण्ड की यात्रा बोधगम्य बनाता है, समय के स्थानान्तरण को प्रामाणिक भी। ऐसा करते हुए कहीं ढील नहीं, सुसम्बद्ध और सुगठित मंच प्रस्तुति। सुगठित कथा विन्यास शुभा के माध्यम से सत्यवती, अम्बालिका, कुन्ती के वक्त कालान्तर में पाण्डवों की विजय उपरान्त कौरव वंशियों का पलायन में समय का संतरण अविचल भाव से लहरों-सा व्यक्त हुआ है, कहीं कोई अन्तर्विरोध नहीं, असमंजस नहीं। काल की आवा-जाही सहज बना देना निर्देशक की क्षमता को व्यक्त करता है। उसके यथार्थवादी ऐप्रोच से यह सम्भव हो सका है।

यूं देखा जाए तो यह नाटक विचार का संवाहक अधिक है किन्तु भाषा की समीचीनता, तरलता और सहजता के साथ मंचित करते हुए तथा अभिनय कर्ताओं द्वारा हाड़ मांस के इन्सान के रूप में पात्रों को सजीव करते हुए, उनके अन्तर्द्वन्द्व, पीड़ा प्रतिशोध अन्तर्विरोधों को अपनी छाती पर जीने और भोगने की काबिलियत कालातीत किरदारों में तब्दील कर देती है। अन्तस्तल की हलचलों को व्यक्त करने वाले प्रयोग निर्देशक की मौलिकता को अवसर देते हैं। अपने वक्त से परे जाकर दर्शक पात्रों के साथ जीता/मरता/पीड़ा मांगता हुआ अन्ततः विचलित लौटता है, निर्देशक की असीम सम्भावनाओं से आश्वस्त होता हुआ।

शरद पगारे के उपन्यास 'बेगम ज़ैनाबादी' का दिल्ली में ऐतिहासिक **मंचन**

दास्ताने मुहब्बत को पढ़ती रंग भाषा

रंगमंच स्थापत्य की वस्तु नहीं है। वह विचार और मनोरंजन की जुगलबंदी के साथ जीवन से झरते अनुभवों की वो ज़मीन है जहाँ अतीत, आज और आगत से एक साथ आँखें मिलाई जा सकती हैं। लेकिन यह सब कसौटी बन जाता है उन किरदारों के लिए जो कागज पर रची इबारतों को मंच पर रेशा-रेशा जीने की हसरत लिए अवाम के बीच प्रकट होते हैं।

नई दिल्ली के श्रीराम सेंटर ऑफ आर्ट्स के प्रेक्षागृह में 'बेगम ज़ैनाबादी' का मंचन ऐसे ही कला-कौतुक का अवसर समेट लाया। 13 और 14 नवंबर की दो प्रस्तुतियाँ दो अहम पहलुओं की वजह से ऐतिहासिक बनीं। पहला-इस रूपांतरित नाटक के मूल उपन्यास लेखक हिन्दी के ज्येष्ठ कथाकार शरद पगारे की प्रदर्शन के दौरान उपस्थिति और दूसरा इतिहास के फलसफे पर गढ़ी इस संवेदनशील कृति को रंगमंच पर साकार करने का जोखिम उठाने वाली यशस्वी रंगकर्मी भारती शर्मा का बेहद कल्पनाशील और सुधरा निर्देशन। लेकिन बकौल पगारे, प्रस्तुति का हर आयाम उनके उपन्यास की आत्मा और आवाज से मेल खाता उसे एक रोमांचक अनुभूति दे गया। सभागार में उमड़े दर्शकों की स्वतः स्फूर्त करतल ध्वनि की देर तक उठती गुंजार ने भी 'बेगम जैनाबादी' पर जो मोहर लगाई वह लेखक-निर्देशक की साधना और सामाजिक स्वीकृति का सुप्रमाण है। नाट्य समूह 'क्षितिज' की लगभग ढाई दशकों की रंग यात्रा में 'बेगम' की आमद एक और मील का पत्थर साबित हुई है।

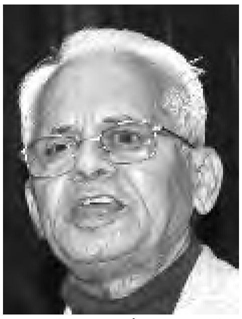

मध्यप्रदेश (इंदौर) में बसे उम्र दराज शब्द-शिल्पी शरद पगारे की कृति को दिल्ली ने तो लक्ष्य किया मगर हैरत है कि उनके अपने गृह राज्य के किसी रंगकर्मी ने उनकी लेखनी पर गौर नहीं किया।

कट्टरपंथी शासक औरंगजेब की दास्ता-ए-मुहब्बत कई आरोह-अवरोहों को पार करती चरम को छूती है। यह कहानी उस प्रेमिल अहसास को बयां करती है जिसे हीर-रांझा, लैला-मजनू और सोनी-महिवाल ने जीकर दुनिया को ढाई आखर की सौगंध की अहमियत सिखाई। दरअसल यह सुकून की दास्तान है जिसे पाने के लिए हर इंसान उम्र भर भटकता है लेकिन जब वह आँचल में उतरता है तो थम जाता है। शरद पगारे ने अपनी औपन्यासिक कृति में इस मनोविज्ञान को इतिहास के पात्रों के साथ इस खूबसूरती के साथ मथा है कि आज के सवालों की चटख भी उसमें सुनाई देती है। प्रेम की कहानी के तल में छिपे उन पोशीदा पहलुओं को जानने का यहाँ अवकाश मिलता है जो औरंगजेब की खलनायकी की वजह बने लेकिन हीराबाई जैनाबादी के साथ अँकुराती प्यार की प्यास जीवन के प्याले को नापने का भी मौका देती है।

जाहिर है कि भारती को 'बेगम' की आंतरिक 'वैचारिक उष्मा को दृश्यमान करने खासी चुनौती का सामना करना पड़ा होगा लेकिन रंग भाषा को गढ़ने तथा संप्रेषण के रोचक सूत्रों को पकड़ने का माद्दा उनकी सतत् साधना का अर्जन है। इसका प्रमाण उन्होंने शुरू से आखिर तक दिया है। नाटकों की सफलता लेखक-निर्देशक से लेकर अभिनेताओं और नेपथ्य के तमाम किरदारों की परस्परता पर टिकी होती है। इतिहास का झरोखा तो और भी सावधानी की दरकार रखता है। शरद पगारे का मुक्त मन से क्षितिज के लिए व्यक्त साधुवाद और प्रसन्नता भारती की पूरी टीम की उपलब्धि है।

मध्यप्रदेश (इंदौर) में बसे उम्र दराज शब्द-शिल्पी शरद पगारे की कृति को दिल्ली ने तो लक्ष्य किया मगर हैरत है कि उनके अपने गृह राज्य के किसी रंगकर्मी ने उनकी लेखनी पर गौर नहीं किया। दिल्ली में हुए दिव्य मंचन के बाद इंदौर में उनके हितैषियों ने पगारे के कृति-व्यक्तित्व को स्व. रामनारायण उपाध्याय स्मृति प्रथम सम्मान से अलंकृत कर उनके रचनात्मक अवदान को याद किया।

● विनय उपाध्याय

जीवन की सुंदरता का जश्न

विनय उपाध्याय

माघ का महीना। उजली होती शिशिर की नर्मोनाजुक संध्याएं। वसंत कहीं बीच राह में है। बयार का कोई झोंका पेड़ की शाखों पर लहराता है और चुपचाप दे जाता है संदेश- 'वसंत आ रहा है'। इससे पहले की धरती के आंगन में ऋतु अपना वासंती रंग बिखेरे, भोपाल की वादियों में उत्सव का अहसास अंगड़ाई लेने लगता है। आपाधापी की महानगरीय जिंदगी में उलझे हजारों कदम रवीन्द्र भवन की ओर मुड़ने लगते हैं। आंख और मन अटक जाते हैं संस्कृति के सतरंगी विन्यास को सामने पाकर। जिंदगी की भूली-बिसरी छवियां नए-नए रूप धरकर सामने आती हैं। जीवन का संगीत भीतर तक बज उठता है और पांव में उठी थिरकन उल्लास जगाने लगती है।

किसी छायावादी कविता की तरह लगने वाला यह पाठ उस जलसे का रेखांकन है जो 'लोकरंग' की शक्ल में अब हर साल शैल-शिखरों की नगरी भोपाल के फलक पर उभरता है। गणतंत्र दिवस को लोक संस्कृति की भावात्मक अंतरंगता के बीच मनाने का यह उपक्रम संस्कृति विभाग की आदिवासी लोक कला अकादेमी की उस प्रतिज्ञा और पुरुषार्थ का प्रतीक है जिसमें भारतीय लोकतंत्र के सूत्र-सामूहिकता, सहकार और शांति जीवंत हो उठते हैं। यही वजह है कि 'लोकरंग' सिर्फ सात दिनों का रस्मी आयोजन भर नहीं है, वह संस्कृति का एक महानुष्ठान बन चुका है। पच्चीस साल पहले एक छोटी-सी पगडंडी पर मध्यप्रदेश के जनजातीय और लोक कलाकारों तथा शिल्पकारों ने अपनी आमद दर्ज करते हुए इस उत्सव का पहला सोपान तय किया था और आज अपने छब्बीसवें पादान पर आकर यह उत्सव परिकल्पना, विस्तार और संयोजन का आदर्श और मानक मंच बन गया है। सिर्फ मध्यप्रदेश ही नहीं, सुदूर राज्यों और पड़ौसी देशों को लोकरंग भी एक साथ, एक ही समय में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सनातन इबारत को पुनः पढ़ने की रौशनी देते हैं।

26वें लोकरंग का अनूठापन इस अर्थ रहा कि यह इस सदी के नए दशक का एक विराट उत्सव बन सका, जहां लोक संस्कृति और परंपराओं में रची बसी भारतीयता पड़ौसी मुल्कों अमेरिका, इंडोनेशियां, जार्जिया, मेक्सिको और पार्शियन देशों के साथ कलात्मक हमजोली करती प्रकट हुई। छप्पन एकड़ क्षेत्रफल में फैला रवीन्द्र भवन परिसर अपने दामन में इस दफा धरोहर, द्वीपान्तर, प्रतिरूप, लोकवार्ता, उल्लास जैसे उन परकोटों से सुसज्जित रहा जहाँ पारंपरिक साज-बाज से सना देशी संगीत और लचकती-बलखाती नृत्य मुद्राओं का मोहक नजारा था। रेशम के धागों और सिल्क की कढ़ाई, रंगाई, छपाई और कसीदाकारी से निखरते नायाब शिल्प नमुदार हुए। लोकरंग के इसी आंगन में हिन्दुस्तान की लोक और जनजातीय जिंदगी के भूले-बिसरे पन्नों को बाँचने की गरज पूरी करने इस दफा नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली ने हाथ आगे बढ़ाया। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला-केन्द्र और संगीत नाटक अकादमी तथा इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय ने

लोकरंग का शुभारंभ : राज्यपाल रामेश्वर ठाकुर, संस्कृति मंत्री लक्ष्मीकांत शर्मा और संयोजक डॉ. कपिल तिवारी

मालवा का 'मटकी'

महाराष्ट्र का 'लिंगो'

अपने खजाने से सैकड़ों मुखौटों की सौगात दी जो नुमाइश की शक्ल में आगंतुकों को लुभाते रहे। हमेशा की तरह शिल्प का बाजार बेशकीमती साजो-सामान से सजा था और खरीद-फरोख्त के सिलसिले के बीच देशी-विदेशी स्वाद को पूरा करने अनेक तरह के पकवान परोसे गए।

राज्यपाल ने किया शुभारंभ

जैसी कि 'लोकरंग' की रवायत रही है, म.प्र. के राज्यपाल रामेश्वर ठाकुर इस सांस्कृतिक बहुरंग का आगाज करने 26 जनवरी की शाम उत्सव परिसर में पधारे। इस जलसे के मेजवान संस्कृति मंत्री लक्ष्मीकांत शर्मा ने महामहिम के साथ मिलकर बैंकॉक के प्राचीन गोल्डन पैलेस की भव्य सुंदरता समेटे मंच पर कलाकारों की हौसला अफजाई की। समारोह की आयोजक संस्था आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी द्वारा संपादित-प्रकाशित 'म.प्र. की जनपदीय कहावतें' और 'म.प्र. के जनपदीय खेल गीत' पुस्तकों के साथ ही स्वराज संस्थान द्वारा संग्रहित 250 देश भक्ति गीतों के संगीतबद्ध सीडी अलबम 'जनगरजै' का लोकार्पण किया। राज्यपाल ने मुखौटों पर केन्द्रित-'प्रतिरूप' का अवलोकन भी किया।

देश-देशांतर के लोक नृत्य

पहली शाम लोकरंग के मुख्य सांस्कृतिक मंच पर प्रदर्शित लोक नृत्यों की समवेत प्रस्तुति को देखना दिव्य अनुभव था। दिल्ली से आई प्रसिद्ध नृत्यांगना मैत्रैयी पहाड़ी ने सामुदायिकता का अनोखा संसार रचते हुए मध्यप्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, अरुणाचल, झारखंड, पश्चिम बंगाल, गुजरात, उड़ीसा, तमिलनाडु, केरल और जम्मू कश्मीर के साथ ही अमेरिका, इंडोनेशिया के अतिथि दलों के पारंपरिक नृत्यों से मिलकर तैयार भावात्मक अंतरंगता को लय-ताल और थिरकन के साथ बखूबी पेश किया। इस कलात्मक कोलाज की खासियत थी 'बहुलता में एकता' की भारतीय पहचान को साकार करना। मंच के सुंदर विन्यास का कल्पनाशील उपयोग करते हुए मैत्रीयी ने लोक और जनजातीय कलाकारों के साथ कोरियोग्राफी का नया आयाम रचा। यह सुंदर ताना-बाना दरअसल जीवन के उस मुखौटे को उजागर करता रहा जिसे सदियों से मनुष्य अपने जीवन कर्म में धारण करता रहा है। .... 'मैं माटी को पुतलो' जैसी काव्यात्मक शुरुआत करते हुए उद्‌घोषक-कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने इस प्रस्तुति के भाव सूत्र समेटे।

हमेशा की तरह इस सांस्कृतिक समागम में लोक नृत्यों का मोहक संजाल अलग-अलग राज्यों और पड़ौसी मुल्कों की बेशकीमती विरासत के पहलुओं के साथ प्रकट हुआ। उड़ीसा के डमकच, बजनिया, जम्मू-कश्मीर के बचनगमा, झुमरो, धमाली, महाराष्ट्र के लिंगो, सौंगीमुखौटे, तमिलनाडु के मयूर और डमी हॉर्स, झारखंड के झूमरा और सरईकेला छाऊ, पंजाब के जिंदुआ, भागड़ा, राजस्थान के सपेरा, घूमर, भवाई, गुजरात के गरबा, टीपणी, गोफ रास, उत्तरांचल के हिलजात्रा, कर्नाटक के गारुडी गुम्बे, सिक्किम के सिंघी छम, हिमाचल के मुखौटा, पश्चिम बंगाल के पुरलिया छाऊ, छत्तीसगढ़ के करमा, सेला और मध्यप्रदेश के मटकी, बधाई के साथ कोरकू, गोंड जनजातीय नृत्य थापटी, गादली, गुदुमबाजा ने मिलकर लोकरंग की शामों को दिलकश नजारे में बदल दिया। हजारों की तादाद में उमड़े

उपलब्धि है यह उत्सव

लोकरंग का होना मध्यप्रदेश में एक बड़ी सांस्कृतिक इच्छाशक्ति का पूरा होना है और बिना शक इसका श्रेय संस्कृति अमले से जुड़े उन तमाम शिल्पियों को जाता है जिन्होंने नौकरी की औपचारिक जिम्मेदारियों से हट कर इस जलसे के लिए निजी जीवट, आपसी सौहार्द्र और सृजन संपर्कों का बड़ा फलक तैयार किया है। लोकरंग के बनते-सँवरते जाने की कहानी में नए मोड़ न आते अगर आदिम जाति कल्याण विभाग की स्थाई सदाशयता शुमार न होती और बदलती सत्ताएं तमाम रागद्वेषों से ऊपर उठकर इसे सच्ची लोकतांत्रिक शक्ति प्रदान न करती।

लोकरंग के चढ़ते पायदानों के साक्षी, इसके विस्तार के स्वप्नद्रष्टा तथा आदिवासी लोककला अकादमी के निदेशक कपिल तिवारी इसे जीवन की व्यापक गतिविधि के बीच बहुत धीरज से गढ़े एक ऐसे लोक पर्व की संज्ञा देते हैं जहां उद्देश्यपूर्ण मनोरंजन और रसास्वादन को परंपरा के प्रकाश में देखा-महसूसा जा सकता है। बकौल तिवारी, लोकरंग मेरे सांस्कृतिक जीवन की एक बड़ी उपलब्धि रही है।

प्रसिद्ध शिल्पकार देवीलाल पाटीदार के अनुसार लोकरंग समय की अनंत स्मृतियों का उत्सव है। कवि-कथाकार ध्रुव शुक्ल कहते हैं- लोकरंग ऐसा मेला है जिसने कठिन बाजारवादी समय में लोक आस्था और पारंपरिक कला शैलियों का बचाया है। कई बरसों से इस उत्सव के मुख्य मंच का आकल्पन करने वाले चित्रकार-शिल्पी हरचंदन सिंह भट्टी के लिए इस जश्न में शामिल होना हमेशा ही एक आदिम यात्रा रहा है।

प्रतिरूप : मुखौटा प्रदर्शनी के पांडाल में एक मनोहारी छवि

दर्शकों के लिए हैरत और खुशी इस बात की रही कि कला के किसी भी गुरुकुल में जाए बगैर परंपरा के ये प्रहरी अपने नृत्य रूपों में कितने अनुशासित और अपने सौंदर्यबोध के प्रति जागरूक दिखाई देते हैं। इनके पास चमत्कारिक सामुदायिकता और गहरी मानवीय आस्था का सुंदर मेल है और अंततः अमन, एकता और आपसदारी की मिसालें बन जाता है। इन नृत्यों के साथ चली आती है कुछ स्मृतियां, विश्वास और परंपराएँ जो हमारे जनपदीय जीवन के प्रवाह के साथ ही हमारे आदिम सत्य को भी उद्‌घाटित करते हैं। पिछले कुछ बरसों में लोकरंग के आंगन में सरहद पार के देशों की आमद ने कौतुहल का नया संसार रचा है। इस बार अमेरिका, इंडोनेशिया, जॉर्जिया, मैक्सिको और इरान से आए कलाकारों ने नृत्य संगीत की झलकियों में परंपरा और आधुनिकता का प्रयोगधर्मी मिजाज प्रकट किया। काबिले गौर यह कि हर प्रस्तुति अपने स्वरूप में भारतीयता से भिन्न होकर भी भाव के धरातल पर मनुष्यता को पुकारती रही। यह इंसानी संवेदना ही लोकरंग जैसी गतिविधि का अभीष्ट भी है।

अमेरिका से आई लीय रचेल और उनकी साथिनों ने आधुनिक नृत्य रूपक तैयार किया था। 'मेमॉयर स्पेस और 'सरकॉयज' यानि मन में बनी-बिगड़ती स्मृतियों और जीवन चक्र के बिम्ब इनमें शामिल हुए। दूसरे दिन की विशेष नृत्य प्रस्तुति में इंडोनेशिया की खेतिहर संस्कृति को दर्शाता नृत्य पेश हुआ। भावी फसल की स्मृद्ध का यह नृत्य पारंपरिक वाद्यों की धीमी-धीमी थिरकन पर बेहद मनोरम जान पड़ता है। स्लोवेनिया के 'फायर डांस' ने जादुई अंदाज में आग और हवा की ऊर्जा को थामकर जंगली जीवन की हकीकतें नुमाया की। उधर इरान का दल सूफी परंपरा का संगीत लेकर रसिकों को अपने मोहपाश में बांधे रखा। मैक्सिको के दल ने वहां के स्थानीय निवासियों द्वारा किया जाने वाला पारंपरिक आनुष्ठानिक नृत्य किया। सिर पर मोरपंखों का अनूठा मुकुट लगाए और सफेद वस्त्र धारण किए नृत्यांगनाओं ने अनोखी छटा बिखेरी। खास बात ये है कि मैक्सिकन नृत्य करने वाली ये सभी बालाएं दिल्ली में रहकर भारतीय नृत्यों की शिक्षा ले रही हैं। एक नृत्यांगना मैक्सिको का नेतृत्व कर रही कैरोलीना ने नेपथ्य में हुई एक विशेष बातचीत में जरा बेहतर ढंग से इसका मर्म समझाया। उन्होंने बताया कि हमारे भीतर की अच्छाई और बुराई के मध्य होने वाले द्वन्द्व को प्रदर्शित करता है उनका यह नृत्य। अंतस की बुराईयों को पराजित करने के लिए व्यक्ति प्रकृति का आह्वान कर शक्ति प्राप्त करता है। यह नृत्य एक प्रकार से आध्यात्मिक तैयारी है।

गुजरात का 'सिद्धि धमाल'

सृजन के आसपास

जीवन में भरोसा जताती कविताएँ

महेन्द्र गगन का काव्य पाठ

वे कविता को सुनने-गुनने के यादगार पल थे। तमाम खानाबंदियों और विचारधाराओं के बरअक्स मानवीय मूल्यों की जमीन पर सींची गई कविता कितनी शिद्दत से अपना वजूद गढ़ती है इस बात की भी नुमाइंदगी कर रहे थे। भोपाल की उस शाम रचना पाठ के लिए आमंत्रित कवि महेन्द्र गगन को मंच ने एक आत्मीय काव्यमय व्यक्तित्व बताया। विचार और रस के सुयोग से पगी उनकी कविताएँ मानवीय रिश्तों की दिलचस्प बानगी बनीं। वनमाली सृजन पीठ के बुलावे पर गगन ने मन भर कविताएँ सुनाईं। प्रेम, रिश्ते-नातों, घर, परिवार, सामाजिक व राजनैतिक सरोकारों से लकदक कविताओं में विचार की नवीनता और कहन का दिलचस्प फलसफा खुला। श्रोताओं ने भी पूरे धीरज और उत्साह से रचना पाठ का आनंद लिया।

कार्यक्रम के अध्यक्ष मूर्धन्य आलोचक डॉ. धनंजय वर्मा ने कविताओं की सराहना करते हुए कहा- एक ऐसे माहौल में जब कविता पढ़ना मशक्कत और चुनौती हो कविता पाठक को पढ़ने के लिए विवश करती है तो समझिए कविता पठनीयता की कसौटी पर खरी उतरी है। महेन्द्र की कविताएँ स्मृतियों में बरबस दाखिल हो जाती हैं और साथ रहना चाहती हैं। इन कविताओं में अंतःकरण में पैठने की बड़ी कुव्वत है। इनमें एक लयात्मक शब्द विन्यास है। प्रेम कविताएं देह केंद्रित नहीं हैं किन्तु देह नकार भी नहीं है। वे आगामी यात्रा का भरोसा दिलाते हैं।

वरिष्ठ कवि-कथाकार संतोष चौबे ने गगन के कवि-कर्म पर विस्तार से रौशनी डालते हुए कहा- कवि का बाहरी व्यक्तित्व आंतरिक व्यक्तित्व से जुदा होता है। कई बार महेन्द्र के साथ रहते हुए महेन्द्र को खोजना सुखद लगता है। प्रेम के माध्यम से मुक्ति का मार्ग खोजती इन कविताओं में प्रगतिशीलता, सांस्कृतिक व राजनैतिक चेतना की अनूठी छवियाँ पूरी व्यापकता के साथ उजागर होती हैं। व्यापक फलक पर लिखी गई प्रेम कविताओं में एक तरह की मन सुहाती रौशनी और कर्णप्रिय अनुगुंज है। अलग-अलग किन्तु महत्वपूर्ण विनिमय करती। ये कविताओं विचार और रस का एक ऐसा युग्म रचती हैं जो हमारे भीतर अजीब सा प्रभाव पैदा करता है। और इससे गगन का आंतरिक विश्व अपने पूरे मनोयोग के साथ खुलता है।

इसके पूर्व सुप्रसिद्ध लेखक रामप्रकाश त्रिपाठी ने गगन के कवि व्यक्तित्व पर अपना मंतव्य प्रकट करते हुए कहा कि गगन के कविता कर्म में मर्म को पकड़ने की विलक्षण क्षमता है। सामाजिक सरोकारों से जुड़ी कई महत्वपूर्ण गतिविधियों में गगन की उपस्थिति रही है जिसका प्रभाव उनकी काव्य चेतना का अहम हिस्सा है। उन्होंने पाक्षिक अखबार 'पहले-पहल' में महेन्द्र गगन के कुछ नायाब संपादकीय का भी जिक्र किया।

वनमाली सृजन पीठ के समन्वयक, कला-समीक्षक तथा कार्यक्रम के संचालक विनय उपाध्याय ने कहा कि गगन हल्लाबोल की तर्ज पर कविता नहीं लिखते हैं बल्कि विभिन्न संस्कारों से बंधी उनकी कविताएं हमें आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित करती हैं। इस मौके पर गगन की कुछ प्रेम कविताओं पर एकाग्र तथा यशस्वी कवि विनोद तिवारी की कविताओं पर केंद्रित भेल हिन्दी साहित्य परिषद् द्वारा जारी पोस्टरों का विमोचन भी किया गया। शुरू में कवि राजेश जोशी, कथाकार मुकेश वर्मा, गजलकार विजय वाते तथा कवि बलराम गुमाश्ता ने मंचासीन अतिथियों का पुष्पदलों से स्वागत किया।

ग्राम कथाएं विलुप्त नहीं हो सकतीं : मैत्रेयी पुष्पा

नई दिल्ली। ग्राम कथाएं विलुप्त नहीं हो सकतीं। किसानों के मुद्दों, उनके द्वारा दिए जाने वाले धरनों को हमें रचनात्मक रूप देना चाहिए। ग्राम कथा के बरअक्स वे कहानियां लिखी जा रही हैं जो शहरों से संबंधित हैं, जिनमें मशीन का जिक्र है, कहीं भी इंसान नहीं है। ये विचार लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने व्यक्त किए। ललित कला अकादमी में 'मंच' पत्रिका के प्रथम अंक जो ग्रामीण पृष्ठभूमि के कथाकार शिवमूर्ति पर केंद्रित है, के लोकार्पण समारोह को संबोधित कर रही थीं। उन्होंने श्री शिवमूर्ति के विषय में कहा कि वे एक चतुर पुरुष और संवेदनशील स्त्री की छाप अपने लेखन के माध्यम से छोड़ते हैं।

इस अवसर पर साहित्यकार और 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव ने कहा कि शिवमूर्ति की खासियत है कि वे अपनी कहानियों के विषय का चयन बहुत सूझबूझ व सोच विचार के बाद करते हैं। इस मामले में वे लाजवाब हैं। वे बेहद छोटे व सरल वाक्यों में गहरी बात कह जाते हैं। वे चीजों को देखते हैं, गैर जरूरी चीजों को छांटते हैं तब हमारे सामने मूल तथ्यों के साथ कहानी को पेश करते हैं। अपने संबोधन में वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा कि दलित उत्थान व नारी चेतना को अभी तक सही तरीके से समझा नहीं गया है। यदि इस विषय पर सही मायनों में गौर किया जाए तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है। कि अगर हकीकत में पूरा समय लेखन को समर्पित किया होता तो कितना स्नेह मुझे मिलता। उन्होंने इस विशेषांक को उन्हें समर्पित किए जाने के विषय में कहा कि यह अचानक हो जाने वाली चीज़ है जिसका खुद मुझे अंदाजा नहीं था। इस अवसर पर 'मंच' के अतिथि संपादक संजीव ने कहा कि बांदा साहित्यकारों की जमीन है और केदारनाथ वहीं से संबंध रखते हैं। उसी जमीन से यह 'मंच' आपके सामने है। पत्रिका के संपादक मयंक खरे ने कहा कि 2011 जन्मशतियों का वर्ष है। इसी साल केदार, नागार्जुन, शमशेर, फैज और अज्ञेय जैसे कवियों की जन्मशती है। अज्ञेय के अतिरिक्त सभी कवि किसानों और मजदूरों के जातीय कवि हैं।

पात्र एक किरदार अनेक

महाराष्ट्र में रंगमंच की परम्परा 150 साल से भी ज्यादा पुरानी है। ऐसे में इस रंगभूमि पर कई महान रंगकर्मियों ने अपने अभिनय का लोहा मनवाया। इसी कड़ी में वरिष्ठ रंगकर्मी प्रो. अजीत केलकर ने इनमें से चुने हुए आठ बड़े किरदारों को एक-एक कर मंच पर उतारा। मौका था महाराष्ट्र समाज भवन तुलसी नगर में चल रहे गणेशोत्सव का। यहां एक पात्री नाट्यविष्कार 'गडकरी ते मतकरी' का मंचन किया गया। नाट्यविष्कार एक अनूठी कला है। इसमें एक ही पात्र कई पात्रों की अभिनय कला को टुकड़ों में प्रदर्शित करता है। प्रो. केलकर ने मंचन की शुरुआत लेखक राम गजेश गडकरी के नाटक राजसंयास के मुख्य किरदार शिवाजी कलमदाने से की। जिसके बाद उन्होंने लेखक विजय तेंदुलकर के नाटक आशीपाखरे येती के मुख्य पात्र अढज सरनाईक, लेखक व्यंकटेश कानेटकर के नाटक प्रति गेलेस काठेवाड़ी के मुख्य पात्र जोरावरसिंग, लेखक वसंत कानेटकर के नाटक वेडयाचं घर उन्हात के मुख्य पात्र दादा साहेब, लेखक वि.वा. शिखंडकर के नाटक नटसम्राट के मुख्य किरदार अधासाहेब, लेखक पु.ल. देशपाण्डे के नाटक फूलरानी के मुख्य किरदार दगड़ोवा सालुके, लेखक जयवंत दलवी के नाटक सूर्यास्त के मुख्य किरदार गायकवाड़ और लेखक रत्नाकर मनकरी के नाटक जाबई माझा भला के मुख्य किरदार कॉन्ट्रेक्टर शेवडे को उनके चुने हुए संवादों के साथ जीवंत किया।

नाटक 'इदं न मम' का मंचन

गुरु गोलवलकर के जीवन में कई अनछुए पहलुओं से रूबरू हुए भोपाल वासियों ने नाटक 'इदं न मम' को खूब सराहा। अपने शिष्यों के प्रिय और प्रत्येक देशभक्त के लिए प्रेरणा का स्रोत माने जाने वाले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक गुरु मानव सदाशिवराव गोलवलकर के जीवन के कई पहलुओं से रूबरू हुए शहरवासी। मौका था गुरुजी पर आधारित नाटक 'इदं न मम' के मंचन का। इसका मंचन बुधवार को रवीन्द्र भवन में हुआ। नाटक की विशेषता रही कि इसमें गुरुजी के जीवन से जुड़े 30 प्रसंगों का चित्रण बेहद प्रभावी ढंग से किया गया। गुरुजी का शिष्यों के साथ सहज वार्तालाप के साथ ही नाटक की शुरुआत होती है। अपने शिष्यों के मन में व्याप्त जिज्ञासाओं को किस तरह से वह शांत करते थे उसकी झलक नाटक में साफ दिखाई गई।

एक बार जब उनके कुछ छात्र मन और अध्यात्म के संदर्भ में उनसे पूछते हैं तो गुरुजी कहते हैं कि इच्छा आकाश, संवेदना जिसमें समाया होता है वह मन होता है और जहां विज्ञान खत्म होता है वहां से अध्यात्म शुरू होता है। नाटक में गुरुजी की हिन्दूधर्म और अध्यात्म में गहरी अध्येता के अलावा राष्ट्र और समाज के साथ पूर्णरूप से तारतम्य स्थापित करने की विधा को भी बखूबी दर्शाया गया। नाटक में डॉ. हेडगेवार से गुरुजी की भेंट, स्वामी अखण्डानंद से सन्यास दीक्षा, उनका सरसंघचालक के रूप में दायित्व ग्रहण करना, सरदार पटेल से भेंट और महात्मा गांधी से वार्तालाप के साथ देश भ्रमण सहित ऐसे 30 प्रसंगों को देखना दर्शकों को खूब भाया। भारत विकास परिषद की ओर से आयोजित और राधिका क्रिएशंस द्वारा निर्मित इस नाटक को देखने के लिए बड़ी संख्या में दर्शक उपस्थित थे। सारिका पेंडसे द्वारा निर्देशित इस नाटक में विविध प्रसंगों को नागपुर से आए 22 कलाकारों ने अपने अभिनय से गुरुजी को जीवंत कर दिया। नाटक का देशभव में 125 बार मंचन हो चुका है। नाटक देखने पहुंचे स्थानीय शासन मंत्री बाबूलाल गौर ने अपने उद्बोधन में गुरुजी को विशाल व्यक्तित्व का इंसान बताया। उन्होंने बताया कि वह कभी भी व्यक्तिगत सम्मान के पक्षधर नहीं रहे थे। उनका मानना था कि गुरुजी को राष्ट्र के संत और नेता के रूप में हमेशा याद रखा जाएगा।

तीन रंग छवियाँ

साहित्यिक सांस्कृतिक एवं रंगमंचीय गतिविधियों की प्रमुख संस्था सूत्रधार ने तीन नाटकों का एक दिवसीय रंगोत्सव महाराष्ट्र साहित्य सभा के सभागार (इन्दौर) में आयोजित किया। अहम यह कि इन्दौर में रंगमंचीय गतिविधियों को पुनर्स्थापित करने एवं विभिन्न नाट्य संस्थाओं को एक सूत्र में पिरोने का अभिनव प्रयास संस्था के संयोजक श्री सत्यनारायण व्यास द्वारा किया जाना अनुकरणीय है।

रंगोत्सव का पहला नाटक 'मरणोपरांत' लेखक सुरेन्द्र शर्मा, निर्देशक - शरद सबल एवं 'रंगरुपिया' समूह द्वारा प्रस्तुत किया गया जिसमें श्री रवि जोशी (पति) एवं अमित राठौर (प्रेमी) ने एक नारी के देहावसान के उपरांत उससे अपने-अपने रिश्ते की व्याख्या करते हुए उसे ज्यादा समझ पाने का दावा किया है। दूसरी ओर दोनों नाटक विगत बीस वर्षों से इन्दौर रंगमंच पर एकाधिकार रखने वाली संस्था 'अष्टरंग' के द्वारा 'बुमरंग' एवं 'पटिनर' थे। नाटक 'बुमरंग' के लेखक एवं निर्देशक श्री संदीप सरवटे हैं, जिन्होंने आज के 'युवा समाज' की वर्तमान ज्वलंत जटिल परन्तु विचारणीय 'मुद्दों', विवाह पूर्व 'लिव इन रिलेशनशिप' को लेकर, पूर्ण समग्रता, शालीनता, गंभीरता तथा तथ्यपूर्ण घटनाक्रमों के माध्यम से पात्रों द्वारा एक दूसरे पर विश्वास रखते हुए स्वाभाविक अभिनय करवाते हुए, प्रेक्षकों के समक्ष विचारार्थ दोनों पक्षों को (याने उजले एवं अंधेरे) सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया। श्री पराग जौहरी एवं प्रिया चौबे ने अपनी जिम्मेदारी ईमानदारी से निभाई। दूसरा नाटक 'पार्टनर' एक बहुत ही गंभीर विषय, होस्टल में रहने वाली तीन लड़कियों के बीच विभिन्न विचारधाराओं, आदतों, पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा भविष्य के लिए अलग-अलग योजनाओं को लेकर चलते मतभेदों के रहते हुए भी सह अस्तित्व की एक अनुभूति एक दूसरे की भावनाओं की कद्र करते हुए नारीगत 'सामाजिक दुश्चक्र' यौन शोषण की पीड़ा की अनुभूति को भोगते हुए उसका प्रतिकार करने की 'उत्कट इच्छा शक्ति' परन्तु सामाजिक व्यवस्थाओं के चलते प्रतिरोधों कुंठाओं के ऊपर अपने आत्म विश्वास की जीत एवं युवाओं की नई विचारधारा को स्थापित करने का प्रयासथा जिसमें पूर्ण नारी संवेदनाओं को बरकरार किया। इस नाटक की तीनों पात्र दामिनी सोनवाणे, सोनम एवं सुकन्या अभिनय के लिए बधाई की पात्र हैं। मूल मराठी नाटक का हिन्दी अनुवाद श्री मिलिन्द देशपाण्डे ने किया। निर्देशकीय प्रवीणता का परिचय श्री अनिल वाफेकर ने पात्रानुसार कलाकारों के चयन द्वारा एवं उनसे प्राकृतिक अभिनय करवाने द्वारा मिलता है। वरिष्ठ साहित्यकार श्री सरोज कुमार ने रंगमंच की विधा के प्रति दर्शकों से संस्था से जुड़ने सहभागी होने एवं नाट्य को एक आंदोलन का रूप देने के लिए सक्रियता, सहयोग एवं सम्मिलित होने का पुरजोर आह्वाहन किया जिसका प्रतिसाद भी स्फूर्त हुआ। इसमें इन्दौर के नाट्य मंच के सुनहरे भविष्य को आशान्वित किया।

-सुशील अत्रे

'उर्दू है जिसका नाम'

भोपाल में नाटक की सरगर्मियों के बीच भारत भवन की अंतरंग शाला में सुपरिचित शायर और रंगकर्मी बद्र वास्ती के निर्देशन कौशल से दर्शकों को नमूदार होने का मौका मिला। उन्होंने मंचन के लिये उस कथानक को चुना जिसका फलसफा भोपाल की वो रवायत है जिसने अनेक मकबूल कलमकारों की नस्ल को तैयार किया। उर्दू अदब के गहवारे भोपाल के ऐसे ही अजीम शायर और यारवाज सख्सियत फज़ल ताबिश लिखित- *उर्दू है जिसका नाम* को राजधानी के ही रंगकर्मियों ने बखूबी अंजाम दिया। अपने तजुर्बे साझा करते हुए बद्र वास्ती बताते हैं- हर कला दिल और दुनिया को जोड़ने का बेहतरीन माध्यम है तो सृजनकर्ता की भी जिम्मेदारी है कि वह इस माध्यम से ऐसे मुद्दों और विषयों को सामने लाए कि वह इस बुनियाद को कुछ और मजबूती प्रदान करे और अलगाव तथा नफरत की सियासत को खरा जवाब दे सके और चीजों के पीछे पोशीदा असलियत को इस तरह सामने लाए कि किसी के दिल को ठेस न पहुंचे और स्वार्थी लोग एक क्षण के लिये स्तब्ध हो कर सोचें कि अब हम क्या करें?

साहित्य अकादमी के उर्दू नाट्य समारोह में नाटक प्रस्तुत करने की बात पर विचार आया कि यही वह उचित समय है जब किसी विचार या नजरिये को अवाम तक पहुंचाया जा सकता है। उर्दू के नाम पर मैं किसी मिर्जा साहब, किसी बादशाह या शायर की कहानी चुन सकता था लेकिन वर्तमान में जिस मुद्दे पर सबसे अधिक बात करने की जरूरत है वह है भाषा। लेकिन इसी मुद्दे पर मुझे लगता है सबसे कम बात हुई है और बहुत खामोशी से इसका फायदा उठाया जा रहा है। आज देश में भाषा, खानपान और पहनावे तक के धर्म और जाति तय किये जा रहे हैं। ऐसे में फजल ताबिश साहब का लिखा नाटक ''उर्दू है जिसका नाम'' यंही रेहनुमाई करता है कि भाषा का कोई

मजहब नहीं होता भाषा तो केवल माध्यम है अभिव्यक्ति का कोई भाषा, किसी धर्म की जागीर नहीं। फजल साहब खुद भी भाषाई सीमाओं से उठकर काम करते थे। उनकी इस रचना में एक ऐसी मिठास है जो इसे अद्वितीय मंजेर आम पर लाने को मजबूर करती है। नाटक में उर्दू-हिन्दी, भाषाओं को पात्र के रूप में दिखाया गया है जो आगे चलकर एक दूसरे का इस तरह साथ देती हैं कि एक खूबसूरत हिन्दोस्तां की तस्वीर उभरती है। और विभिन्न संस्कृतियों वाले हाफ देश भारत के एक में अनेक का संदेश पहुंचता है।

पं. रामानंद तिवारी स्मृति प्रतिष्ठा सम्मान

हाल ही में इंदौर प्रेस क्लब के राजेन्द्र माथुर सभागृह में पं. रामानंद तिवारी स्मृति प्रतिष्ठा सम्मान समारोह आयोजित किया गया, जिसमें प्रदेश के दो ख्यात साहित्यकार उक्त सम्मान से नवाजे गये। साहित्य के क्षेत्र में किए गए उल्लेखनीय कार्यों के लिए प्रो. सरोज कुमार को पं. रामानंद तिवारी स्मृति सम्मान २००७ और लेखिका डॉ. शरद सिंह को स्मृति सम्मान २००८ प्रदत्त किया गया। सम्मान के रूप में ११ हजार रुपये की सम्मान राशि, प्रशस्ति-पत्र और शाल-श्रीफल भेंट किये गये। यह समारोह इंदौर प्रेस क्लब और तिवारी परिवार की ओर से आयोजित किया गया।

सम्मान समारोह के मुख्य अतिथि म.प्र. जनसंपर्क के आयुक्त एवं सचिव श्री राकेश श्रीवास्तव ने कहा कि पं. रामानंद तिवारी न सिर्फ अच्छे पत्रकार और शिक्षक थे, बल्कि वे स्वाभिमानी और दृढ़ निश्चयी व्यक्तित्व के धनी भी थे। इस अवसर पर अतिथियों साहित्यकारों ने अपने विचार रखे और बाबूजी के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला। इस अवसर पर मौजूद अतिथियों द्वारा श्रीमती स्वाति तिवारी के लघुकथा संग्रह ''हथेलियों पर उकेरी कहानियां'' और बाबूजी की स्मृति में लिखी गई स्मारिका ''स्मृति कलश'' का विमोचन भी किया गया।

प्रो. सरोज कुमार ने कहा कि साहित्य गुबा के फूल के समान है। वह जहां भी रहे, जिस स्थिति में रहे अपनी अलग पहचान और उपयोगिता बनाये रखता है। डॉ. शरद सिंह ने कहा कि साहित्य और पत्रकारिता सहचर और सहगामी हैं। ये जीवन के विभिन्न आयामों को सामने लाते हैं। उन्होंने कहा कि यह सम्मान दलित, पीड़ित एवं शोषित के दुःखदर्द को सामने लाने के प्रयासों का समर्थन है। कार्यक्रम की संयोजक डॉ. स्वाति तिवारी ने सभी का अभिवादन करते हुए पुरस्कार स्थापना के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम का संचालन पत्रकार श्री संजय लाहोटी ने किया।

रावत की कविताएँ

कलाओं के मरकज भारत भवन के अंतरंग में शाम के वो लम्हे एक कवि के अंतरंग में झांकने का यादगार प्रसंग लेकर उतरे। हिन्दी के अग्रज-आत्मीय कवि भगवत रावत कुछ नासाज सेहत और खराश भरे गले के बावजूद नई-पुरानी कविताओं की संगत लिए देर तक अपने चाहने वालों के बीच मुखर थे। भारत भवन के साहित्य प्रभाग 'वागर्थ' की 'पाठ' श्रृंखला के तहत

उन्होंने अपने जखीरे से प्रिय और चर्चा में रही कुछ रचनाओं को चुना। पाठ के प्रवाह के बीच साहित्यिक जुमलों और कविता के संदर्भों ने माहौल को एकरसता से बचाए रखा। ''दिल्ली'' शीर्षक से बहुचर्चित रही कविताओं के अलावा 'पेड़ों की आवाज़', 'सफर में किताब', 'गिरना', 'सच पूछ लो' और 'देश एक राग है' की ध्वनियाँ रावत ने कविताई व्यक्तित्व का साक्ष्य बनीं।

उदयन का रचना पाठ

ललित कलाओं और साहित्य की संस्था 'स्पंदन' ने स्वराज भवन, भोपाल में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक उदयन वाजपेयी का रचना पाठ आयोजित किया। उदयन ने इस अवसर के लिए कुछ पुरानी और कुछ बिल्कुल नयी कविताओं का पाठ चुना। उसके बाद उन्होंने 'अब नहीं कुछ' नामक अपनी प्रसिद्ध कहानी पढ़ी। शुरुआत में उन्होंने बताया कि कहानी में बार-बार आने वाला 'माई' शब्द

सोलहवीं सदी की ब्रज बोली की कविताओं से लिया गया है। यह कहानी एक युवा लड़की का अपने प्रेमी की अबूझ मृत्यु पर किया गया लम्बा विलाप है। इस विलाप में ही वह अपने प्रेम के सौन्दर्य को व्यक्त करती है और उसके खो जाने की व्यथा को भी। पूरी कहानी एक सांगीतिक रचना की तरह गढ़ी हुई जान पड़ती है।

इस अवसर पर प्रमुख साहित्यकार, रंगकर्मी, चित्रकार तथा साहित्यप्रेमी श्रोता बड़ी संख्या में उपस्थित थे। आरम्भ में कार्यक्रम की संयोजक डॉ. उर्मिला शिरिष ने श्री उदयन वाजपेयी का परिचय दिया। संस्था के अध्यक्ष डॉ. शिरीष शर्मा तथा सचिव गायत्री गौड़ ने अतिथियों का स्वागत किया।

विलास गुप्ते के पाँचवें कहानी-संग्रह 'पन्नालाल के जूते' पर इंदौर में आयोजित एक चर्चा-गोष्ठी में कवि-कथाकार संतोष चौबे ने कहा कि ये कहानियाँ प्रतिरोध की कहानियाँ हैं। आज के भागते हुए बाजार की गति का प्रतिरोध इन कहानियों में है। कार्यक्रम के अध्यक्ष कवि-समीक्षक लीलाधर मंडलोई ने कुछेक कहानियों की चर्चा करते हुए बताया कि ये कहानियाँ मानस में अपना स्थान बनाती हैं। चर्चाकार के रूप में कथाकार सूर्यकांत नागर ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि व्यक्तिगत अनुभवों को समष्टिगत बनाने में लेखक सिद्धहस्त है। कहानीकार-चित्रकार प्रभु जोशी का मत था कि विलास गुप्ते अपरिचित को साहित्य में लाकर परिचित बनाते हुए गल्प रचते हैं। कार्यक्रम के प्रारंभ में संचालन कर रहे कवि सरोजकुमार ने स्पष्ट किया कि लेखक ने लेखन को हमेशा गंभीरता से लिया है। आभार 'शिल्पायन' की ओर से प्रकाशक ललितकुमार शर्मा ने माना। ***चरण सिंह अमी***

लघु पत्रकारिता पर व्याख्यान

तटस्थता या यथास्थितिवाद को बनाए रखना पत्रिका का नजरिया नहीं होना चाहिएष तटस्थता एक तरह की चालाकी है। पत्रिका को जनपक्षधर होना पड़ेगा क्योंकि समाज और मनुष्यता की बेहतरी से बड़ा कोई लक्ष्य नहीं है। 'पक्षधर' के सम्पादक डॉ. विनोद तिवारी ने 'हिन्दी लघु पत्रकारिता : नयी चुनौतियाँ' विषय पर व्याख्यान में कहा कि लघु पत्रिका का बड़ा दायित्व यह है कि वह व्यवस्था के साथ बहस बनाते हुए प्रतिरोध की रचना करे। उदयपुर में डॉ. मोहन सिंह मेहता मेमोरियल ट्रस्ट द्वारा आयोजित गोष्ठी में डॉ. तिवारी ने कहा कि व्यापक हिन्दी समाज तक पहुंचने के लिए लघु पत्रिकाओं को और बड़े प्रायस करने होंगे। 'बनास' के संपादक डॉ. पल्लव ने कहा कि अपनी भाषा और साहित्य के प्रति प्रेम और निष्ठा के सांस्कृतिक हस्तक्षेप जरूरी है जिसका अवसर लघु पत्रिकाएँ देती हैं। अध्यक्षता कर रहे वरिष्ठ आलोचक प्रो. नवल किशोर ने कहा कि व्यवसायिक मीडिया के विकल्प ढूंढना जरूरी है। साहित्य संस्कृति के संदर्भ में लघु पत्रकारिता को व्यावसायिक हुए बिना जनपक्षधर होने की चुनौती है। बी.एन. कॉलेज के प्राध्यापक एवं जन संस्कृति मंच के राज्य संयोजक हिमांशु पंड्या ने सूचना तकनीक के नये माध्यमों को अपनाने की जरूरत बताते हुए कहा कि जब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर गंभीर खतरे दिखाई दे रहे हों तब विचार की थोड़ी सी भी गुंजाइश महत्वपूर्ण हो जाती है, संवाद में ऐपवा की डॉ. सुधा चौधरी, गजलगो मुश्ताक चंचल, मीरा गर्ल्स कालेज की डॉ. तराना परवीन, डॉ. पूनम अरोड़ा, तेजशंकर पालीवाल, प्रकाश तिवारी, हाजी सरदार मोहम्मद, भंवर सिंह राजावत सहित अन्य प्रतिभागियों ने भी अपने विचार व्यक्त किए। अंत में डॉ. मोहन सिंह मेहता मेमोरियल ट्रस्ट के सचिव नन्दकिशोर शर्मा ने आभार व्यक्त किया। **नन्द किशोर शर्मा**

'छवि संवाद'

चित्रकला रंग-रेखाओं के जरिए जिन्दगी के आध्यात्मिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का माध्यम है। सैकड़ों की तादाद में कलाकृतियाँ गढ़ने के बावजूद मुझे लगता रहा है कि जैसे जीवन की किसी पहेली को बूझ रहा हूँ। मुझे इस बात का संतोष है कि एक पेंटर के रूप में मेरी दीवानगी को घर-परिवार के सदस्यों और मित्रों ने हमेशा दाद दी और दुनिया भर के कलाप्रेमियों ने भरपूर सराहा।

मशहूर चित्रकार श्री सुरेश चौधरी ने अपने कला-जीवन से जुड़ा अनुभव का यह सार श्री लिटिल बैले ट्रुप के सभागार में खुलासा किया। नाट्य समूह रंग विदूषक और सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' द्वारा आयोजित आत्मकथ्य व्याख्यानमाला 'छवि संवाद' के अंतर्गत श्री चौधरी ने लगभग आधी सदी की कला यात्रा के विभिन्न पड़ावों को याद किया। मालवा (म.प्र.) की चित्र परंपरा के यशस्वी प्रतिनिधि और पेशे से वास्तुकार रहे सुरेशजी ने बताया कि मालवा के लोक चित्रण की संवेदनाओं को बचपन में माँ से ग्रहण किया और ये ही सृजन-संस्कार मुझे केनवॅस, कूची, रंग-रेखाओं की अनोखी दुनिया में रमने के लिए, हर बार नया सोचने सिरजने के लिए प्रेरित करते रहे। देश-विदेश की

अनेक कला-वीथिकाओं में एकल तथा सामूहिक चित्र प्रदर्शनियों में अपनी बेमिसाल कृतियों के लिए प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा के नए शिखर तय कर चुके श्री चौधरी ने कहा कि मैंने कभी भी पुरस्कार या सम्मान की गरज से चित्र नहीं बनाए, न ही मैं कभी इस प्रतिस्पर्धा में शामिल रहा। खुशी इस बात की है कि पुरस्कारों की पंक्ति से अलग होकर भी मेरे चित्रों के प्रति दर्शकों का आकर्षण कभी कम नहीं हुआ। लाल रंग को अपनी निजी पहचान का प्रतीक बताते हुये श्री चौधरी ने कहा कि मेरी चेतना और अभिव्यक्ति के विषयों को मैं इसी रंग के शेड्स में उजागर करता रहा हूँ। कभी पीला और नीला भी उपयोग में लिया है। मेरा मानना है कि हर चित्रकार को अपना मुहावरा गढ़ना चाहिए। वही उसकी पहचान भी बनता है। एक सवाल के जवाब में सुरेशजी ने बताया कि मेरी कला की बुनियाद में बेन्द्रे, डी.जे. जोशी, विष्णु चिंचालकर और रजा तथा हुसैन की अनूठी रंगतों का प्रभाव भी रहा है। इन सबने निश्चय ही भारतीय चित्रकला को दुनियाभर में प्रतिष्ठित किया है।

श्री चौधरी ने कहा कि चित्रकला को भी अन्य विधाओं की तरह जल्दबाजी में नहीं साधा जा सकता लेकिन इधर बहुत से युवा चित्रकार ग्लेमर-शोहरत और बाजार की गिरफ्त में आकर दिशा-भ्रमित हो रहे हैं। ऐसे कलाकारों की उम्र बहुत थोड़ी होती है।

व्याख्यान से पूर्व कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने श्री सुरेश चौधरी के रचनात्मक पहलुओं पर रौशनी डाली। प्रख्यात बैलेकार सुश्री गुलवर्धन ने शॉल-श्रीफल तथा स्मृति चिन्ह भेंटकर श्री चौधरी का अभिनंदन किया। रंगकर्मी श्री उदय शहाणे, फरीद बजमी, नीति श्रीवास्तव और 'कला समय' परिवार की ओर से भंवरलाल श्रीवास ने भी पुष्पगुच्छ भेंटकर सुरेशजी का स्वागत किया। आभार श्री उदय शहाणे ने माना।

इतिहास का फलक

धर्मपाल शोधपीठ द्वारा आयोजित संगोष्ठी में गाँधी विद्या संस्थान वाराणसी की निदेशक व समाज वैज्ञानिक प्रो. कुसुमलता केडिया ने इतिहास को देश व काल के विराट फलक में ही देखे जाने की जरूरत बताई।

इतिहास, इतिहासकार व इतिहास लेखन विषय पर हुए इस सेमीनार में उन्होंने कहा कि हम अपने दैनिक जीवन की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं तक के विषय में एक पर्याप्त दीर्घकालिक योजना बनाते हैं तब भारत जैसे महान देश के इतिहास के विषय में दैनंदिन आधार पर न तो कुछ सोचा जा सकता है और न ही कहा जा सकता है। उसे तो कम से कम सौ वर्षों के व्यापक फलक पर ही देखा जा सकता है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि विश्व इतिहास को समझकर ही भारतीय इतिहास के विषय में कोई धारणा बनाई जाए। उन्होंने कहा कि भारतीय पुराणों और इतिहास ग्रंथों को पढ़कर ही भारतीय मानस की संरचना और संकल्पों, उसके उत्कर्ष और ह्रास के विषय में समझा जा सकता है। रामायण व महाभारत दोनों ही युद्ध काव्य हैं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय समाज स्वभावतः एक वीर समाज है। डॉ. केडिया ने कहा कि पता नहीं किन आधारों पर यह प्रचारित कर दिया गया है कि हमने कभी आक्रमण नहीं किया, जबकि यह सत्य नहीं है। हमारे प्रतापी नरेश सदा ही दूर-दूर तक आक्रमण करते रहे हैं।

राजाराम ने खंगाला अतीत

हिन्दी भवन (भोपाल) में समकालीन मध्यप्रदेश के कला इतिहास पर आधारित कार्यक्रम 'खंगाल' का आयोजन किया गया। प्रतिष्ठित चित्रकार, आलोचक और कला इतिहासविद् प्रो. राजाराम ने ललित कला अकादमी दिल्ली के स्वर्ण जयंती ग्रंथ 'हिस्टॉरिकल डेवलपमेंट ऑफ कंटेम्परारी इंडियन आर्ट' में प्रकाशित दो अध्यायों के मुख्य अंश को पढ़ा। उसकी समीक्षा की। अखिल भारतीय साहित्य परिषद म.प्र. इकाई द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम में समकालीन भारतीय कला के ऐतिहासिक विकास पर विस्तृत चर्चा भी हुई। स्वर्ण जयंती ग्रंथ के प्रकाशित प्रथम खंड में प्रो. राजाराम ने दो अध्याय पेंटिंग शिल्प और चित्र ग्राफिक्स आर्ट पर केन्द्रित किए हैं। जिसमें 1880 से 1970 तक के कालखंड को सम्मिलित किया गया है।

निसर्गवाद और नवजागरणवाद दो पक्षों को लेकर प्रकाशित इस पहले भाग के दो अध्यायों में समकालीन मध्यप्रदेश की कला को पहली बार गंभीरता, व्यापक शोध और कला इतिहास लेखन के नए मानकों की गहराई को प्रो. राजाराम ने प्रस्तुत किया है।

इसमें उन्होंने शिक्षा के समकालीन पुरखे माने जाने वाले दादा त्रयंबक राव यावलकर मुकुंद सखाराम भांड, स्वतंत्रता सेनानी माधव शांताराम रेगे, दत्रातेय दामोदर देवलालीकर को शामिल किया तो वहीं कला के सात सप्तर्षियों को जिन्होंने शिल्पकारी और चित्रकारी की कला का सृजन करने वाले रघुनाथ कृष्ण फड़के, एसएन सुब्बकृष्ण, डीजे जोशी, रीवा के दरबारी मुस्विवर अवध शरण सिंह बावनी, मालवा के मास्टर मदन लाल शर्मा, रुद्र हंजी और नागेश यावलकर जैसी बड़ी बस्तियों को सम्मिलित किया है। अपने वक्तव्य में प्रो. राजाराम ने कहा कि उन्हें अफसोस होता है कि आज कई ऐसी हस्तियों की कृतियों और कलाकारों को प्रदेश की सरकार भूल चुकी है जिनका समकालीन इतिहास में बड़ा योगदान रहा है।

देवास का जिक्र करते हुए प्रो. राजाराम कहते हैं कि वहां लगी छत्रपति शिवाजी महाराज की प्रतिमा जिसे पद्म श्री डॉ. रघुनाथ कृष्ण फाड़के ने तैयार की थी, वहां के लोगों ने गेट तोड़कर अपना रेत-गिट्टी बेचना शुरू कर दिया है। यहीं नहीं शिवाजी की प्रतिमा में उनके पैरों पर रस्सी बांधकर तंबूरा खड़ा कर दिया है। प्रमुख साहित्यकार और प्रखर आलोचक डॉ. धनंजय वर्मा का कहना था कि यह समकालीन मध्यप्रदेश की कला का इतिहास है या फिर मध्यप्रदेश की कला का समकालीन इतिहास। कहा कि 1880 को समकालीन नहीं कहा जा सकता, साथ ही इसमें विदर्भ का जिक्र नहीं किया गया है। कार्यक्रम

में दैनिक भास्कर के स्टेट एडिटोरियल हेड अभिलाष खांडेकर ने शिवाजी चौराहे पर नगर निगम ने जिस तरीके की कुछ छोटी-मोटी मूर्तियां बनाई हैं उस पर नाराजगी जताई। उन्होंने कहा कि आर्ट ऑब्जेक्ट या मूर्तियां या फिर पब्लिक प्लेस पर बनाई जाने वाली कलाकृतियां कौन बना रहा है, उसका ज्ञान क्या है, उसे अनुभव क्या है यह जानना जरूरी है। इसी तारतम्य में उन्होंने म.प्र. के प्रमुख शहरों में अर्बन आटर्स कमीशन जैसी एजेंसी गठित करने की मांग की। उन्होंने कहा कि बढ़ते शहरों के नियोजन में कलाकारों की भागीदारी आवश्यक है।

कार्यक्रम में धर्मपाल शोध पीठ के निदेशक प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज, प्रेमचंद सृजन पीठ उज्जैन के निदेशक जगदीश तोमर, छायांकन वामन ठाकरे सहित अन्य लोग उपस्थित थे।

मानस संगीत सभा

भारतीय शास्त्रीय संगीत को समर्पित मानस संगीत सभा की 23वीं मासिक बैठक में संगीत संध्या का आयोजन को गौतम नगर में हुआ। संगीत संध्या पद्मभूषण डॉ. पुट्टराज गवई को समर्पित थी। बैठक में संगीत गुरु पंडित सिद्धराम स्वामी कोरवार के शिष्य सिद्धार्थ पाराशर ने ख्याल गायकी प्रस्तुत कर डॉ. पुट्टराज गवई को आदरांजलि दी। सिद्धार्थ पाराशर ने सभा की शुरुआत राग पूरिया धनाश्री में विलंबित एक ताल में निबद्ध बड़ा ख्याल अब तो ऋतुमान आए ना बोलूं मैं तुमसो प्यारो...' और तीन ताल में निबद्ध छोटा ख्याल बंदिश 'मां सरस्वती मानो मोरी बिनती, कुमती मोरी हर कर दो मोहे सुमती मां...' प्रस्तुत कर सभा को संगीत रस में सराबोर कर दिया। इसके बाद सिद्धार्थ राग मियां मल्हार में निबद्ध बड़ा ख्याल 'करीम नाम तेरो तू साहिब सतार...' प्रस्तुत कर भोपाल में वर्षा के लिए इंद्रदेव को प्रसन्न करने का आह्वान किया। अंत में राग मिया मल्हार में ही तीन ताल में निबद्ध छोटा ख्याल मोहम्मद शाह रंगीला रे, रे बालमा तुम बिना मैं...' प्रस्तुत किया। उनके साथ तबले पर संगत रामेन्द्र सिंह सोलंकी और हारमोनियम पर पं. जितेन्द्र शर्मा थे।

बरखा उत्सव

वायलिन की धुन, तबले की थाप, हारमोनियम की सरगम और दिल को सुकून देने वाली गजलें। यह सब एक साथ हो तो श्रोताओं का मन स्वतः ही झूमने लगता है। रवीन्द्र भवन में भी कुछ ऐसा ही आलम रहा। गजल गायक तापसी नागराज और छोटे उत्साद फेम जयन्त सिंह चौहान ने अपनी गायकी के जादू से श्रोताओं को भावविभोर कर दिया। मौका था अभिनव कला परिषद् भोपाल के 40वें बरखा उत्सव का। सभा का प्रारंभ तापसी नागराज की गजल जब किसी से कोई गिला रखना, सामने अपने आईना रखना... से हुआ। इसके बाद उन्होंने बरखा ऋतु के दो गीतों को भी प्रस्तुत किया। उनको तबले पर नफीस अहमद, वायलिन पर रईस भाई तथा हारमोनियम पर श्रीधर ने संगत दी। नागराज के बाद 'छोटे उस्ताद' फेम तथा गुलाम अली खां के शिष्य जयन्त सिंह ने कमान अपने हाथों में ली। जयन्त ने डॉ. बशीर बद्र की गजल 'कभी यूं भी आ मेरी आंखों में...' से गजल की शुरुआत की। जयन्त ने महफिल में और रंग भरते हुए गुलाम अली की गजलों की प्रस्तुत आरंभ की। गुलाम अली की गजलों में जैसे ही हंगामा है क्यूं बरपा...' को प्रारंभ किया तो मंच के सामने मौजूद सभी श्रोताओं ने तालियों की गड़गड़ाहट से उनका हौसला बढ़ाया। इसी क्रम में 'चुपके चुपके रात दिन...' 'हम तेरे शहर में...' की प्रस्तुतियां देकर उन्होंने श्रोताओं का दिल जीत लिया। उनके साथ हारमोनियम पर प्रकाश शुजालपुरकर तथा तबले पर हितेन्द्र दीक्षित ने संगत दी।

इस मौके पर गायिका तापसी नागराज, गायक जयंत सिंह चौहान, आकाशवाणी इंदौर के सहायक केन्द्र निदेशक एवं संगीतकार प्रकाश शुजालपुरकर तथा तबला वादक हितेन्द्र दीक्षित को सम्मानित भी किया गया। विशेष अतिथि के रूप में वित्त मंत्री राघव जी उपस्थित थे। अभिनव कला परिषद के सचिव पं. सुरेश तांतेड़ ने संचालन किया। इस अवसर पर परिषद् के अध्यक्ष श्रवणेश्वर झा, उपाध्यक्ष विजय वोरा व आर.आई.एम. शर्मा, कोषाध्यक्ष सुरेन्द्र पाल सिंह, संगठन मंत्री वीरेन्द्र कुमार व गोपालकृष्ण गोदानी सहित सभी सदस्य एवं संगीत प्रेमी उपस्थित थे।

हर बच्चे तक पहुँचे बाल साहित्य

हर भाषा में बच्चों के लिए साहित्य रचा जा रहा है। अलग-अलग भाषाओं का श्रेष्ठ बालसाहित्य सभी बच्चों तक पहुंचना चाहिए। यह बात वरिष्ठ बाल साहित्यकार डॉ. श्रीप्रसाद ने कही।

मायाराम सुरजन हिन्दी भवन में 'बाल साहित्य की वर्तमान दिशा व दशा' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में मुख्य अतिथि के रूप में उन्होंने कहा कि बाल साहित्य को गंभीर अध्ययन की जरूरत होती है इसे हलके से नहीं लिया जाना चाहिए। अध्यक्षता कर रहे वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. देवेन्द्र दीपक ने कहा कि बाल साहित्य का लेखन बच्चों की रुचि को ध्यान में रखते हुए व समय के अनुरूप होना चाहिए। बाल पत्रिका समझ झरोखा के संपादक रामदीन त्यागी ने कहा कि बच्चों के लिए रचा गया साहित्य सहज व सरल हो तथा इसे कम कीमत में उपलब्ध कराया जाना चाहिए। अपना बचपन पत्रिका के संपादक महेश सक्सेना ने कहा कि अच्छे बाल साहित्य के द्वारा बच्चों के भविष्य का निर्माण किया जा सकता है। भीलवाड़ा (राजस्थान) से प्रकाशित बाल पत्रिका बाल वाटिका के संपादक डॉ. भेरूलाल ने इस मौके पर बताया कि वर्तमान में मध्यप्रदेश व खास तौर पर भोपाल में उत्कृष्ट बाल साहित्य की रचना हो रही है। कार्यक्रम में मुलताई, बैतूल, छिंदवाड़ा दतिया सहित प्रदेश के कई जिलों से आए बाल साहित्यकारों ने शिरकत की। संचालन घनश्याम मैथिल ने किया तथा आभार युगेश शर्मा ने माना।

कला मनीषियों का अभिनंदन

प्रभात साहित्य परिषद् के 31वें वार्षिक उत्सव एवं सम्मान समारोह का आयोजन वरिष्ठ साहित्यकार प्रो. भगवत रावत के मुख्य आतिथ्य में हुआ। अध्यक्षता समीक्षक व साहित्यकार प्रो. कमला प्रसाद ने की। विशेष अतिथि वरिष्ठ कथाकार मुकेश वर्मा थे। इस मौके पर परिषद् द्वारा चयनित रचनाकारों को सम्मानित किया गया। इसके तहत 2010 के लिए ज्ञान भारती सम्मान श्रीमती भवप्रदा श्रीवास्तव भोपाल को, गीतकार सविता अग्निहोत्री स्मृति सम्मान रामगोपाल जोया दानिश जयपुरी भोपाल को तथा गीतकार महेश जोशी सम्मान

चार रचनाकारों नवल जायसवाल (छायांकन व चित्रकारी के लिए), डॉ. रामकृपाल निगम (साहित्य), डॉ. वीरेन्द्र कुमार दुबे (साहित्य) व स्व. डी.डी. राऊत मानव को पीड़ा के शिलालेख व आँख में बादल संग्रह के लिए दिया गया। कार्यक्रम में परिषद् द्वारा प्रकाशित वार्षिक पत्रिका बुद्धिजीवी का लोकार्पण भी किया गया। कार्यक्रम में संस्थापक सचिव रमेश नंद, वरिष्ठ उपाध्यक्ष खलील कुरैशी सहित परिषद् के कई पदाधिकारी व सदस्य उपस्थित थे।

पंकज राग को मीरा स्मृति सम्मान

वरिष्ठ कवि पंकज राग को 'यह भूमंडल की रात है' काव्य संग्रह के लिए द्वितीय मीरा अग्रवाल स्मृति सम्मान से अलंकृत किया गया। मीरा फाउंडेशन एवं साहित्य भंडार इलाहाबाद की ओर से उन्हें पुरस्कार स्वरूप 25 हजार की राशि, शॉल व श्रीफल भेंट किए गए।

मध्यप्रदेश संवर्ग के प्रशासनिक अधिकारी पंकज राग वर्तमान में भारतीय फिल्म व टेलीविजन संस्थान पुणे के निदेशक हैं। एनआईटीटीआर सभागार में आयोजित सम्मान समारोह में मुख्य अतिथि वरिष्ठ आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने कहा कि पंकज राग की कविताएँ आम आदमी की बात कहती हैं उन्होंने अपनी रचनाओं में इतिहास को पूरी समग्रता से प्रस्तुत करते हुए उन्हें यादगार बना दिया है। डॉ. सिंह ने पंकज राग की दिल्ली पर लिखी कविता का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए कहा कि 24 पन्नों की इस कविता में दिल्ली के पूरे इतिहास को समेटा गया है। इसमें उर्दू व फारसी के शब्दों का इस्तेमाल बहुत ही खूबसूरती से किया गया है साथ ही छोटे लोगों के सपनों व उनकी नींद तक की चिंता इसमें की गई है, जो आम आदमी से उनके सरोकारों व जुड़ाव को दर्शाती है। वहीं उनकी एक अन्य कविता '1857' में इतिहासकारों पर भी चोट की गई है।

अध्यक्षता कर रहे डॉ. भगवत रावत ने कहा कि पंकज राग ने इतिहास व पुरातत्व को अपनी कविताओं का विषय बनाया है जो कि एक कठिन काम है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इतिहास एक बड़ी चुनौती है और उन्होंने अपनी कविताओं में इतिहास को रचनात्मक ढंग से प्रस्तुत कर एक बड़ी जिम्मेदारी का काम किया है। निर्णायकों की ओर से राजेन्द्र शर्मा ने श्री राग की कविताओं का विश्लेषण किया। इस मौके पर पंकज राग ने कहा कि वर्तमान साहित्य में कलावाद हावी होने की कोशिश कर रहा है और किसी भी मुद्दे पर खड़े होने की प्रवृत्ति को दरकिनार किया जा रहा है जो कि चिंतनीय है। उन्होंने इस मौके पर अपनी कुछ कविताओं का पाठ किया। इनमें प्रेम पर छोटी कविताएँ, ऐसे बच्चे, आदमी के कई पहलू थे, बुरहानपुर आदि शामिल हैं।

अमरिडान का संगीत

मानव संग्रहालय भोपाल के वीथि संकुल में श्रोता अमरिडान बैंड के साथ देशी-विदेशी संगीत के जादू में खो गए। मौका था इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय के 34वें स्थापना दिवस के समापन समारोह का। इसके तहत प्रदर्शनकारी कलाओं की प्रस्तुत के अंतर्गत विश्व प्रसिद्ध ऑस्टियन जाज समूह अमरिडान द्वारा जाज संगीत की प्रस्तुति दी गई। इसके पूर्व अनुष्ठानिक उत्सव हुआ।

शुरुआत 'चासकोन' रिदम से हुई. इसके बाद भारतीय शैली पर आधारित 'फेस मी' सहित अनेक प्रस्तुतियां देकर बैंड ने दर्शकों को आल्हादित कर दिया। बैंड में शामिल वाद्ययंत्रों की लय और ताल के अनूठे संबंध ने आज की शाम को और भी अधिक खूबसूरत बना दिया। इसके अलावा बैंड की कलाकार हिना सरोजिनी ने स्व निर्मित भारतीय अफ्रीकी सरबेरियन शैली में नृत्य प्रस्तुत किया। अमरिडान बैंड की स्थापना 2002 में जार्ज ग्रेटजर द्वारा की गयी थी। इस बैंड ने कई देशों का भ्रमण किया है तथा इन देशों के देशज संगीत की झलक उनके संगीत में स्पष्ट दिखाई देती है। उनके साथ तबले पर राहुल सेनगुप्ता तथा गिटार पर थॉमस मायरहॉकर ने साथ दिया।

सुख-समृद्धि के लिये किया अनुष्ठान : इसके पूर्व दोपहर में गुजरात की राठवा जनजाति ने संग्रहालय की मुक्ताकाश प्रदर्शनी जनजातीय आवास में स्थित अपने समुदाय के सर्वोच्च देवता 'इंदु' के आनुष्ठानिक उत्सव का आयोजन किया। 'बाबू इंद' गुजरात की राठवा जनजाति के सर्वोच्च देवता हैं। इनकी पूजा चैत्र नवरात्र के अवसर पर या फिर जब घरों में पिथौरा चित्र बनाये जाते हैं, उस अवसर पर की जाती है। सुख-समृद्धि, भूमि की उर्वरता तथा बीमारियों आदि से बचाव के लिये तथा मन्नत पूरी होने पर इनकी पूजा की जाती है।

पारंपरिक लोकनृत्यों की प्रस्तुति : इसके पश्चात मणिपुर की कोम जनजाति, मध्य गुजरात एवं मध्यप्रदेश की राठवा जनजाति द्वारा जनजातीय आवास में पारम्परिक शैली में लोक नृत्यों की प्रस्तुति दी गई। राठवा जनजाति के कलाकारों ने अपने इष्ट देव बाबू इंद्र को समर्पित कदम के पेड़ के साथ पारंपरिक लोक नृत्य प्रस्तुत किया। वहीं दूसरी ओर मणिपुर की कोम जनजाति द्वारा पारंपरिक नृत्य खुरपोइलाम प्रस्तुत किया गया। खुरपोइलाम नृत्य सामूहिक तौर पर महिलाओं एवं पुरुषों द्वारा किया जाता है। यह नृत्य केवल पारंपरिक तथा विसेष अवसरों पर ही किया जाता है। इससे पूर्व संग्रहालय में तैयार किये जा रहे कोम जनजातीय आवास की आज प्रातः 5:00 बजे कौम जनजाति समुदाय द्वारा धरती माता की पूजा की गई। धरती माता की पूजा आवास बनाने से पहले आज्ञा लेने के लिए की जाती है, जिससे कि आवास में देवी-देवताओं का निवास हो और स्थान सदा सुख समृद्धि से भरा रहे। धरती माता की पूजा सूर्य उदय से पूर्व ही की जाती है।

कविता यात्रा

भारतीय स्टेट बैंक, स्थानीय प्रधान कार्यालय भोपाल द्वारा आयोजित समारोह में कवि- कथाकार संतोष चौबे द्वारा परिकल्पित 'कविता यात्रा' की संगीतबद्ध प्रस्तुति देते गायक-संगीतकार संतोष कौशिक और उनके सहयोगी कलाकार संदीपा पारे, तृप्ति बिल्लौरे, खुश्बू और उत्सव।

हरदेनिया का अमृत महोत्सव

भोपाल के वरिष्ठ पत्रकार लज्जाशंकर हरदेनिया के 75 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में अमृत महोत्सव का आयोजन किया गया। इस मौके पर आदिशक्ति साहित्य कला परिषद और म.प्र. हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से अभिनंदन कर उन्हें स्मृति चिह्न भेंट किया गया। कार्यक्रम के अध्यक्ष प्रो. कमला प्रसाद शिक्षाविद् नुसरत बानो रूही ने उनकी साम्यवादी व समाजवादी विचारधाराओं को उकेरा। इस मौके परकैंसर अस्पताल के अध्यक्ष मदन मोहन जोशी, रमाकांत श्रीवास्तव, भगवत रावत, शिवकुमार अर्चन काजी दिलशाद अली सहित अनेक साहित्यकार, समाजसेवक, पत्रकार, कवि आदि उपस्थित थे।

महाश्वेता की 'डायन'

प्रख्यात बंग्ला साहित्यकार और सामाजिक कार्यकर्ता महाश्वेता देवी की कहानी 'डायन' का मंचन भारत भवन (भोपाल) में हुआ। महाश्वेता देवी देश में चल रही डायन कुप्रथा के खिलाफ ढाई दशक से भी अधिक समय तक आंदोलनरत रही हैं और वर्तमान में भी उनकी लड़ाई जारी है। अंतरंग सभागार में यह नाटक माही समूह की प्रस्तुत थी। निजाम पटेल ने नाट्य रूपांतरण किया है।

गौरतलब है कि सन् 1984 में महाश्वेता देवी और कई आंदोलनकारियों ने प्रसिद्ध संथाली कवि शारदा प्रसाद किरकू के नेतृत्व में बंगाल में पुरूलिया से लेकर सिंहभूम तक डायन विरोधी आंदोलन छेड़ा था। बंगाल, असम और छत्तीसगढ़ के आदिवासी और ग्राम अंचलों में आज भी जारी इस कुप्रथा पर महाश्वेता देवी ने अपनी कहानियों के जरिए तो प्रहार किया ही है साथ ही समय समय पर लेखों के जरिए इसका लगातार विरोध करती आई हैं। उनके एक प्रकाशित लेख में वह कहती हैं कि- 'दरअसल डायन हत्या के पीछे लोभ या विरोध या विद्वेष रहा है। इसलिए येन-केन प्रकारेण एक व्यक्ति को चिन्हित कर उसकी जमीन, मवेशी, धन दौलत और प्राण लिए जाते रहे हैं। मुझे लगता है कि आदिवासियों को इस अंधकार से निकालने में डायन विरोधी आंदोलन ने जो भूमिका निभाई है उसे और तेज किए जाने की दरकार है। यह भी एक युद्ध है।'

डायन विरोधी इस व्यापक आंदोलन को पच्चीस साल पूरे होने पर लक्षींद्र कुमार कुमार सरकार ने 'पुरुलिया डायन विरोधी आंदोलन' नाम से एक ग्रंथ भी प्रकाशित किया था। 32 अध्यायों वाली यह किताब पूरे बंगाल में चले डायन विरोधी आंदोलन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। प्रेमचंद और रेणु की कहानियों में 'डायन' : प्रेमचंद की कहानियों में भी यदा-कदा डायन का जिक्र आता है जैसे बूढ़ी काकी में 'डायन मरे ना मांच छोड़े' आदि मुहावरों और लोकोक्तियों से वे समाज में औरतों के डायन होने की गहरे पैठी मानसिकता का परिचय देते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु ने भी अपनी तमाम कहानियों और उपन्यासों में डायन प्रथा की समाज में गहरी जड़ों को रेखांकित किया था। अपने प्रसिद्ध उपन्यास परती परीकथा में उन्होंने बिहार का शोक कही जाने वाली कोसी नदी के लिए 'डायन कोसी' का संबोधन इस्तेमाल किया था।

केनवॅस और कविता के रंग

प्रकृति के विभिन्न रंगों को समेटे अपने भावों को दर्शाती चित्र प्रदर्शनी 'इमरजंस' का शुभारंभ अलियांस फ्रांसिस में हुआ। फ्रांसीसी दूतावास के सहयोग से अनिल गायकवाड़ की चित्र प्रदर्शनी एवं वरिष्ठ कवि नरेन्द्र जैन का कविता पाठ हुआ। 'शैडो बिकमस रियालिटी' थीम पर आधारित 12 चित्रों में अनिल गायकवाड़ ने अपने मन के भावों को उभारा है। उन्होंने लाइट और शेड के कॉम्बीनेशन पेस्टर्स कलर्स का उपयोग किया है। एब्सट्रेक्ट माध्यम में काम करने वाले अनिल के चित्रों में भावना और कल्पना का संतुलन देखने को मिलता है। चित्र प्रदर्शनी का शुभारंभ वरिष्ठ कवि साहित्यकार भगवत रावत ने किया। कार्यक्रम के दूसरे चरण में वरिष्ठ कवि नरेन्द्र जैन का कविता पाठ हुआ। कार्यक्रम का संचालन कवि नवल शुक्ल ने किया। नरेन्द्र जैन ने अपनी कविताओं में कलाओं के विभिन्न रूपों को समाहित किया। दस्तक शीर्षक से कविता में कल दोपहर तीन से चार बजे के

दरम्यान खटखटाया गया में उन्होंने इंतजार को व्यक्त किया तो वहीं मिट्टी में चेहरे, धुंध, घाटी की पुकार में जीवन के विभिन्न रंगों को व्यक्त किया। उन्होंने अपने नए कविता संग्रह काला सफेद में प्रविष्ट होता है की कविताएं भी प्रस्तुत की। साथ ही टाइम, विंडो और हैमर शीर्षक से अंग्रेजी कविता भी प्रस्तुत की। भगवत रावत पर केंद्रित कविता 'डायलिसिस' और शिल्पकार देवीलाल पाटीदार पर 'देवीलाल पाटीदार' शीर्षक से कविताएं श्रोताओं के हृदय को छू गईं।

माच का मंचन

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय में मालवा के प्रसिद्ध लोक नाट्य माच का आयोजन किया गया। इसमें श्री सिद्ध लोककृति सांस्कृतिक संस्था, उज्जैन के कलाकारों की ओर से राजयोगी राजा भर्तृहरि' नामक लोकनाट्य की प्रस्तुत दी गई। संग्रहालय के वीथि संकुल के अंतराग सभागार में मंचित इस नाटक की शुरुआत अवंतिका के राजा भर्तृहरि के आने की सूचना से होती है। ऐसे में जिस रास्ते से राजा को गुजरना होता है उन रास्तों पर साफ-सफाई और छिड़काव की तैयारियां शुरू कर दी जाती हैं। भर्तृहरि अपनी प्रजा के सुख-दुख का पूरा ध्यान रखते हैं। राजा का अपनी तीनों रानियों में पटरानी पिंगला से सबसे ज्यादा प्रेम रहता है। एक दिन प्रजा एक विकराल शेर से परेशान होकर राजा से रक्षा की गुहार लगाती है। राजा उस शेर के शिकार पर चले जाते हैं। पागल शेर को मारने के बाद राजा अपनी पटरानी पिंगला के सतीत्व को परखने के लिए महल में अपनी मृत्यु की झूठी सूचना पहुंचा देते हैं। इसे सुनकर रानी अपने प्राण त्याग देती है। इधर राजा भर्तृहरि 900 हिरनों के झुंड में एक श्याम मृग को मार देते हैं। उसके विरह में व्याकुल हिरनियां विलाप करते हुए राजा को श्राप देकर अपने प्राण त्याग देती हैं। राजा को इस बात का पछतावा होता है। उसी पल उन्हें खबर मिलती है कि रानी पिंगला ने प्राण त्याग दिए हैं। अपने दोषों का प्रायश्चित करने के लिए राजा गुरु गोरखनाथ की शरण में जाते हैं और आखिर में सभी सांसारिक मोह माया त्याग कर अपना जीवन गुरु की सेवा में बिताने का निर्णय ले लेते हैं।

नाटक में राजा की भूमिका में भंवरलाल पांचाल का अभिनय कमाल का रहा। वहीं रानी की भूमिका श्री बाबूलाल भाटी, प्रधान और गुरु गोरख नाथ के किरदार में भेरूलाल पांचाल ने भी खूब तालियां बटोरीं। पार्श्व संगीत में हारमोनियम पर मांगीलाल वैष्णव और ढोलक पर मोहनलाल का संयोजन तारीफ के काबिल रहा। कार्यक्रम का संचालन संस्कृतिकर्मी विनय उपाध्याय ने किया। खुले, सादगीपूर्ण और कलात्मक मंच पर खेले जाने वाले खेल या रंग प्रस्तुति को माच कहा जाता है। इसमें स्त्रियों की भूमिका भी पुरुष कलाकार निभाते हैं।

गुरु वंदना महोत्सव

मंच पर ही निकलें प्राण : सितारा देवी

'नृत्य मेरा सबसे प्यारा दोस्त है। मैं नृत्य के बगैर कुछ और नहीं सोच सकती। मेरी भगवान से प्रार्थना है कि जब भी जन्म लूं नृतकी के रूप में लूं।' यह बात कथक नृत्य साम्राज्ञी सितारा देवी ने कही। मौका था भोपाल में 'मधुवन' संस्था के चालीसवें गुरु वंदना महोत्सव का।

'मुगले आजाम' फिल्म के डायरेक्टर के आसिफ की पत्नी सितारा देवी ने कहा कि इतिहास रचने वाली फिल्में मुगले आजम दोबारा नहीं बन सकती। अब न वैसे डायरेक्टर और न ही वैसे कलाकार हैं। वर्तमान फिल्मों में डांस के स्तर से वे दुखी हैं। उनका कहना है फिल्मों में सिवाय वल्गेरिटी के कुछ नहीं बचा। नृत्य शैली में बदलाव की बात नहीं है। पूरा नृत्य ही चौपट हो गया है। सितारा देवी ने कहा कि मेरी अंतिम इच्छा है कि मैंने अपना पूरा जीवन नृत्य को दिया। लोगों का भरपूर प्यार मिला। मैं चाहती हूं कि मंच पर नृत्य करते हुए ही इस शरीर को त्यागूं।

गुरु वंदना समारोह में नगरीय प्रसासन एवं विकास मंत्री बाबूलाल गौर महाराज पंडोखर सरकार और मधुवन संस्था के कार्यकारी अध्यक्ष सुभाष विट्ठलदास और मधुवन संस्था के निदेशक सुरेश तांतेड़ ने कथक नृत्य साम्राज्ञी सितारा देवी, बैले नृत्यांगना गुलवर्धन, भरतनाट्यम गुरु पं. शंकर होम्बल, स्वतंत्रता सेनानी एवं कवि पं. राजमल पवैया, वरिष्ठ पत्रकार अभय छजलानी, वरिष्ठ साहित्यकार भगवत रावत और प्रो. आफाक अहमद को 'श्रेष्ठ कला आचार्य' सम्मान से सम्मानित किया। कार्यक्रम का संचालन विनय उपाध्याय ने किया। महोत्सव में भजन गायक रविराज नासेरी ने अपने भजनों से श्रोताओं को भक्तिरस से सराबोर किया। सरकार उन लोगों को भारत रत्न नहीं देती जो उसके हकदार हैं। उनके अवार्ड देने का पैमाना मेरी समझ में नहीं आता। वहां भी राजनीति है। यह बात पदमविभूषण, पद्मश्री सुप्रसिद्ध कथक नृत्यांगना सितारा देवी ने कही। एक ऐसे दौर में जब महिलाओं का नृत्य करना अच्छा नहीं माना जाता था उस दौर में रियाज कर नृत्य के क्षेत्र में शिखर छूने वाली सितारा देवी शहर में थीं। उन्होंने अपने जीवन के खुशनुमा पलों को बांटने के साथ वर्तमान में अवार्ड मिलने की राजनीति पर दुःख व्यक्त किया। सितारा देवी ने बताया कि बनारस में जब उनके पिता उन्हें नृत्य सिखाते थे, तो घुंघरू की आवाज बाहर जाती थी। बिरादरीवालों ने उनका काफी विरोध किया तो पिता ने मोहल्ले वालों से कहा कि ये वो नृत्य नहीं है जो आप समझ रहे हैं। इसमें राधाकृष्ण, भरतमिलाप जैसे प्रसंगों की प्रस्तुति होती है, लेकिन उनका विरोध जारी रहा। उनके विरोध के चलते हमें बंबई आना पड़ा।

पावस निमंत्रण

मेघों ने अमृत छलकाया अम्बर से, धरती ने चूम लिए बूंदों के गाल, शरमाया ताल। कुछ इसी अंदाज में कवियों ने वर्षा ऋतु का आह्वान किया। मौका था हिन्दी भवन के नरेश मेहता गोष्ठी कक्ष में कला मंदिर संस्था द्वारा आयोजित 'पावस निमंत्रण' काव्य गोष्ठी का। काव्य गोष्ठी में कला मंदिर की नवनिर्वाचित कार्यकारिणी की घोषणा के साथ उनका सम्मान भी हुआ।

संस्थाध्यक्ष डॉ. रामवल्लभ ने बताया कि कला मंदिर संस्था की स्थापना 21 अक्टूबर 1951 को हुई थी। संस्था के 60 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में हम हीरक जयंती वर्ष के रूप में भी मनाएंगे। मनोज जैन 'मधुर' ने 'मानसून ने धर दिया, आसमान पर पांव, प्यास बुझाने आ गए बदरा अपने गांव' कविता पढ़ी तो वहीं अशोक चंद्र दुबे 'अशोक' ने 'आ पहुंचा है डाकिया श्याम धरा के वेश में, गोरी तनिक निहार ले लाया है संदेश' कविता का पाठ किया। अरविंद प्रियदर्शी ने 'मांग सूरज भरे चांद बिन्दी धरे, आसमां केश सुलझा के गूथा करे, देवता तरसे छवि आचमन के लिए, प्राण तन मन हैं वतन के लिए' कविता का पाठ किया। कार्यक्रम में मुख्य अतिथि कैलाश पंत और विशिष्ट अतिथि कमलकांत, सक्सेना, कैलाश मड़वैया, सतीश चतुर्वेदी, राजेन्द्र शर्मा, हुकुमपाल सिंह 'विकल' थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता कमल किशोर टंडन ने की। कला मंदिर संस्था के नवनिर्वाचित अध्यक्ष डॉ. रामवल्लभ आचार्य ने नवनिर्वाचित सदस्यों के नामों की घोषणा की। संस्था के परामर्श दात्री समिति के सभापति गौरी शंकर गौरीश, कार्यकारी अध्यक्ष उपेन्द्र पाण्डे, उपाध्यक्ष जंगबहादुर श्रीवास्तव, सुरेन्द्र जैन सरस, श्याम बिहारी सक्सेना चुने गए। अशोक दुबे कोषाध्यक्ष और मनोज जैन 'मधुर' सचिव बने।

ममता की कृति विमोचित

अच्छी रचनाओं से ही कृति की पहचान बनती है और कृति की पहचान से ही रचनाकार की पहचान बनती है। ऐसी रचनाएं समाज को भी सकारात्मक दिशा प्रदान करती हैं। यह विचार वरिष्ठ चिंतक और सांसद अनिल दवे ने व्यक्त किए। उन्होंने साहित्यकार ममता तिवारी की पुस्तक 'क्या कह रही है जिंदगी' का विमोचन किया। समारोह का आयोजन दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय ने होटल पलाश में किया।

इस अवसर पर मुख्य अतिथि भारत भवन के पूर्व न्यासी सचिव रामेश्वर मिश्र पंकज ने कहा कि इस संग्रह की रचनाएं भावपूर्ण हैं। ममता की रचनाएं जीवन का अनुभव व्यक्त करती हैं। इन रचनाओं में जीवन का अनुभव सहज रूप में आता है। वहीं अध्यक्षीय उद्‌बोधन में पद्मश्री मेहरुन्निसा परवेज ने कहा कि ममता की रचनाओं में गहन सामाजिक भावबोध है। इस तरह की रचनाएं सार्वकालिक होती हैं और अपनी चमक बरकरार रखती हैं।

लोकार्पण के बाद ममता तिवारी ने अपनी कृति और रचनाओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपनी कृति से कुछ रचनाओं का पाठ भी किया। मालूम हो कि 'क्या कह रही है जिंदगी' ममता तिवारी की पहली कृति है। इसका प्रकाशन पहले पहल ने किया है। समारोह के आरंभ में संग्रहालय प्रवर परिषद् के संयोजक नरेन्द्र दीपक ने सभी का स्वागत किया। संचालन विनय उपाध्याय और आभार संग्रहालय के निदेशक राजुरकर राज ने व्यक्त किया। वहीं विमोचित कृति की समीक्षा दिनेश प्रभात, श्यामबिहारी सक्सेना और मधु शुक्ला ने की।

मंडलोई की पुस्तकों का लोकार्पण

वरिष्ठ साहित्यकार लीलाधर मंडलोई की पांच नई पुस्तकों तथा उन पर केंद्रित राग भोपाली के विशेष अंक का लोकार्पण रवींद्र भवन में हुआ। लोकार्पण प्रख्यात विचारक, आलोचक धनंजय वर्मा द्वारा किया गया। कार्यक्रम में लीलाधर मंडलोई की लोकार्पित पुस्तकों में से 'लिखे में दुक्ख' मूलतः दार्शनिक प्रवृत्ति पर आधारित है, जबकि 'महज शरीर नहीं रक्खा' नगरीय और महानगरीय जीवन की एकाग्र चेतना पर लिखी गई है। उनकी पुस्तक 'एक बहुत कोमल तान' सतपुड़ा की प्रकृति, जीवन और समाज पर आधारित है। इसके अलावा उनकी पुस्तक 'घर-घर घूमा' के परिवर्तित संस्करण का लोकार्पण भी किया गया। इसमें खदान का जीवन, भारिया आदिवासियों के जीवन और अंडमान निकोबार के जनजाति, पातालकोट और वहां के मजदूरों की स्थिति, सुनामी आदि को केन्द्र में रखा गया है।

इसके अलावा श्री मंडलोई द्वारा संपादित 'रचना आज' का लोकार्पण भी इस अवसर पर किया गया। इसमें पांच युवा कवियों के पुस्तकों के संपादित अंश शामिल किए गए हैं। इन कवियों में बिहार के कुमार वीरेन्द्र, उत्तराखंड के शिरीष कुमार, राजस्थान के प्रेमचंद गांधी, भोपाल के मनोहर बाथम और नरेश चंद्रकर शामिल हैं।

पूर्णिमा के लोकचित्र

हिन्दी लेखिका संघ की ओर से मानस भवन (भोपाल) के पुस्तकालय कक्ष में निमाड़ी लोकचित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की गई। इसमें चित्रकार पूर्णिमा चतुर्वेदी की करीब 50 से अधिक चित्र प्रदर्शित हुए जो विभिन्न त्योहारों पर आयोजित होने वाले रीति-रिवाजों पर आधारित हैं। इसमें त्योहारों से संबंधित देवी-देवताओं को अलग-अलग रंगों के माध्यम से कैनवास पर उतारा गया है। प्रदर्शनी की खासियत यह रही कि यहां प्रदर्शित चित्रों को आधार बनाते हुए महिला साहित्यकारों को उसके ऊपर लेखनी के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति व्यक्त करनी थी, जिसमें राजधानी के करीब 40 लेखिकाओं ने भाग लिया। कविता, कहानी, लघु कथा, गीत, गजल, लेख आदि विधाएँ शामिल थीं। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. विनय राजाराम ने की। इससे पहले लोकचित्रों की प्रदर्शनी का उद्‌घाटन चित्रकार प्रो. राजाराम ने किया।

गाँव-गाँव गूँजी 'संजा'

आईसेक्ट स्टूडियो (भोपाल) द्वारा मध्यप्रदेश के निमाड़ अंचल में प्रचलित संजा गीतों के ऑडियो सी.डी. अलबम 'म्हारी संजा फूली वो' के प्रसार अभियान के दौरान बड़वाह (पश्चिम निमाड़) के एक समारोह में सी.डी. जारी करते हुए प्रसिद्ध लोक संस्कृति कर्मी वसंत निरगुणे, ललित निबंधकार डॉ. श्रीराम परिहार और गीतकार शिशिर उपाध्याय। साथ में आईसेक्ट स्टूडियो के प्रतिनिधि प्रशांत सोनी और आशीष पोतदार। गौरतलब है कि अलबम में शामिल संजा गीतों का चयन - संग्रह तथा गायन निमाड़ की सुपरिचित लोक गायिका श्रीमती आलोचना मांगरोले तथा उनकी सहयोगियों ने किया है। बड़वाह के साथ ही महेश्वर, खरगौन, धामनौद, सनावद, बड़वानी और खंडवा के समीपस्थ अंचलों में इस सीडी को व्यापक लोकप्रियता मिली।

खरगौन में सांस्कृतिक संस्था वयम के संयोजन में एक आत्मीय समारोह संस्कार शिक्षालय में आयोजित किया गया जिसमें संजा गायिका आलोचना मांगरोले का अभिनंदन वरिष्ठ लेखक डॉ. अखिलेश बार्चे तथा कन्या महाविद्यालय की प्राचार्य सुमित्रा वासकले ने किया।

शाह ने सुनाई कविताएँ

ललित कलाओं के लिए संस्था 'स्पंदन' द्वारा स्वराज भवन भोपाल में कवि, कथिकार, आलोचक प्रो. रमेशचन्द्र शाह का कविता पाठ हुआ। प्रो. शाह ने अपनी सृजन प्रक्रिया के बारे में कहा कि- कविता एक ऐसी कला है, जिसकी सारी सामग्री मनुष्य की अपने को अभिव्यक्त करने की छटपटाहट से ही उपजी है। अपने कवि स्वभाव को लेकर मुझे कभी भी उलझन नहीं हुई। होश संभाला तभी से वह मेरे साथ है। अपने जिए भोगे से उबरने, उसे किसी अर्थ के उजाले में बदल सकने का उपकरण है। कविता शब्दों और शब्दों में ही लिखी जाती है। एक मानी में तो असली कवि स्वयं भाषा ही है।''

इसके बाद उन्होंने कछुए की पीठ पर, तुम्हारी कहानी दूसरी आजादी, कविता जी खुद, आपातकाल, हजरत नूह, चोटियां (एक, दो), संवाद, मुनीम की चिंता, बेचारे मुचकुंद को, तुलसी एक्सप्रेस पेंशनर, एक हंगारी लड़की से मुलाकात, सपने में बायसराय, दोस्त, उसने कहा सहित लगभग बीस कविताओं का पाठ किया। डॉ. शिरीष शर्मा, गायत्री गौड़, तथा वीरेन्द्र जैन ने अतिथियों का स्वागत किया। संचालन कथाकार तथा स्पंदन की संयोजक उर्मिला शिरीष ने किया। आभार कथाकार मुकेश वर्मा ने व्यक्त किया।

अभिनंदन

वरिष्ठ शास्त्रीय गायक और संगीत गुरु पं. सिद्धराम स्वामी कोरवार के अमृत वर्ष पर उनके शिष्यों तथा कलाधर्मियों ने भावभीना शुभकामना समारोह आयोजित कर पंडितजी का अभिनंदन किया। भोपाल के मानस भवन सभागार में कोरवारजी को सम्मान अर्पित करते हुए कवि-चिंतक तथा वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी मनोज श्रीवास्तव तथा म.प्र. के संस्कृति संचालक श्रीराम तिवारी।

'स्पंदन' अलंकरण समारोह

विनोद कुमार शुक्ल सहित पाँच सर्जकों का सम्मान

भोपाल की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्था 'स्पंदन' का सालाना अलंकरण समारोह पिछले दिनों प्रख्यात साहित्यकार एवं मासिक पत्रिका 'दस्तावेज' के यशस्वी संपादक डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की अध्यक्षता में भारत भवन के अंतरंग सभागार में संपन्न हुआ। समारोह में प्रख्यात कवि और उपन्यासकार विनोद कुमार शुक्ल को 31000 रुपए की सम्मान राशि, शॉल श्रीफल और स्मृति चिह्न प्रदान कर समग्र साहित्यिक अवदान के लिए स्पंदन शिखर सम्मान से विभूषित किया गया, जबकि साहित्यिक पत्रकारिता के लिए 'उद्‌भावना' पत्रिका के संपादक अजेय कुमार, डॉ. अनामिका (कृति पुरस्कार), रोहिणी अग्रवाल (आलोचना पुरस्कार) तथा मनीष पुष्कले (चित्रकला पुरस्कार) तथा श्री बद्रीनारायण (कृति पुरस्कार) दिया गया। इस अवसर पर राजकमल प्रकाशन के संचालक अशोक माहेश्वरी भी उपस्थित थे। रोहिणी अग्रवाल और विनोद कुमार शुक्ल की प्रकाशित किताबों का लोकार्पण भी हुआ। सम्मानित हुए सर्जकों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रो. रमेश दवे ने टिप्पणी पढ़ी।

व्यंग्यकार स्व. जब्बार ढाकवाला की स्मृति को समर्पित इस समारोह के प्रारंभ में संयोजक डॉ. उर्मिला शिरीष ने अपने स्वागत भाषण में कहा कि भौतिक रूप से स्पंदन एक संस्था जरूर है, लेकिन वस्तुतः वह एक स्वप्न और एक आंदोलन है। मनीष पुष्कले ने कहा कि मेरे काम के बारे में जो कुछ भी कहना जरूरी है- वह मेरी कलाकृतियां भी कहती हैं। रोहिणी अग्रवाल ने कहा कि मेरा दायित्व है कि मैं अपने लेखन की सार्थकता साबित करूं। बद्रीनारायण ने कहा- चालाक मध्यम वर्ग ने इस समय सारे विमर्शों पर कब्जा कर रखा है। ऐसे समय में मैं समय की अनुगूंजों को सुनता हूं और कविता लिखता हूं। कथाकार डॉ. अनामिका ने कहा कि सारे कला मध्यम एकला चलो रे के बजाय हाथ मिलाकर चलने की बात कहते हैं। इसे सदा याद रखना चाहिए कि जो चट्टानें हमारा रास्ता रोकती हैं वे हमें संरक्षण भी प्रदान करती हैं। अजेय कुमार ने कहा कि वाम विचारधारा के सामने कई चुनौतियां खड़ी हो गई हैं। विचारधारा के स्तर पर इन चुनौतियों से कैसे लड़ा जाय, यह एक बड़ा प्रश्न है। विनोद कुमार शुक्ल ने कहा कि शब्दों के साथ रहने की मेरी आदत पढ़ गई है। उनके बिना गुजारा मेरे लिए कठिन है। मैंने पुरस्कारों से पीछा छुड़ाने की बहुत कोशिशें की किन्तु छूटा नहीं। मैं छंद में कविता नहीं लिख सका। मैं तो मानता हूं कि शब्दों के आस-पास अर्थों के गुम्बद होना चाहिए। छंद मुझे हर बार कविता के इर्द-गिर्द की हरी घास की तरह लगता है, जिसकी आड़ में कविता छिप जाती है। अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने कहा कि जिस समाज में साहित्यकारों और कलाकारों का सम्मान नहीं होता- वह समाज नष्ट हो जाता है।

रचना पाठ : समारोह के दूसरे दिन स्पंदन संस्था के तत्वावधान में भोपाल स्वराज संस्थान के सभागार में सम्मानित साहित्यकारों का रचना पाठ का हुआ। अध्यक्षता कथाकार गोविन्द मिश्र ने की। संस्था की सचिव गायत्री गौड़ ने सभी सम्मानित साहित्यकारों की रचना पर केन्द्रित पेंटिंग अतिथियों को भेंट की। विनोद कुमार शुक्ल ने विभिन्न भावभूमि की छोटी-छोटी कविताएं सुनाईं। अजेय कुमार ने तीन संस्मरणात्मक आलेख पढ़े। कृति पुरस्कार पाने वाली डॉ. अनामिका ने 'दस द्वारे का पिंजरा' उपन्यास के कुछ हिस्सों का पाठ किया, युवा कवि बद्रीनारायण ने कुछ संस्मरणों और कविताओं के पाठ के जरिए अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। रोहिणी अग्रवाल ने अपनी एक कहानी का पाठ किया।

-युगेश शर्मा

पाठक संवाद

'रंग संवाद' का संपादकीय कविता और संगीत के साहचर्य को लेकर विचारोत्तेजक है। कुछ मुद्दों पर असहमति है तथापि विस्तार से वह फिर कभी। रंगकर्म से संबंधित पर्याप्त से अधिक पठनीय सामग्री अंक में है। कविता और संगीत से संबद्ध कोई प्रश्न ओम प्रकाश चौरसिया से किया जाना था। अनुभव सिक्त उत्तर की अपेक्षा रहती। असगर वजाहत जैसे सफल नाटककार का स्वर भी अंततः हताशा का ही स्वर है। नाटक की भाषा, नये नाट्यरूप, कला पर पूंजी का ग्रहण, अकाल अभिनेत्रियों का, नाट्य संगीत आदि रंगकर्म से जुड़ी वाजिब चिंताएं व्यक्त हुई हैं। उधर सोलह पृष्ठों में 'सृजन के आसपास' में सृजनशीलता की रपटें हैं। कौन कहता है साहित्य में सन्नाटा है। खूब काम हो रहा है। सार्थक। श्री विनोद तिवारी के गीतों की ऑडियो सीडी के जारी होने के समाचार ने प्रसन्न किया। प्रसन्न होने को और भी खबरें/रपटें हैं। यहाँ साहित्य सीधे-सीधे नहीं उसके समाचार हैं। इससे भी संतोष तो हो ही रहा है।

चन्द्रसेन विराट, इन्दौर

●●●

पिछले अंक पर भी पत्र लिखना चाहता था, व्यस्तताओं की वजह से नहीं लिख पाया। लेकिन वह अंक भी अच्छा लगा था। और यह उससे भी बेहतर है। बधाई! मेरा पूरा सहयोग रहेगा। संपादक विनय उपाध्याय और पूरे संपादक मंडल को भी साधुवाद। साथ ही अपनी इस खुशी का इजहार कि एक साथ इतने सारे अच्छे रचनाकार इस पत्रिका से जुड़े हैं।

रमेश उपाध्याय, नई दिल्ली

●●●

रंग संवाद के अप्रेल-जून अंक के लिए धन्यवाद एवं आभार। कविता और रंगकर्म पर आपका सम्पादकीय ऐतिहासिक महत्व का पाठ है। उसने रंगमंच और साहित्य विशेषकर कविता के अन्तर संबंधों को सशक्त रूप में पेश किया है। कालिदास भवभूति, शूद्रक के नाटक इसके उदाहरण हैं। आपके सम्पादकीय ने भूले बिसरे सूत्रों को पुनः जोड़ा है। पत्रिका की विशेषता रंग संवाद संबंधित लेखों के साथ ही अंचल की साहित्यिक/रंग गतिविधियों संबंधी समाचारों का प्रकाशन एवं मंचित नाटकों के चित्र हैं। चित्रों के साथ नाटकों और कलाकारों के नाम देते तो उचित होता। रंग संवाद द्वारा नए नाटकों का प्रकाशन रंगकर्म के लिए महत्वपूर्ण एवं अमूल्य योगदान रहेगा। विनय उपाध्याय का सहयोग रंग संवाद की उपलब्धि है।

शरद पगारे, इन्दौर

●●●

'रंग संवाद' का अंक मिला आपको धन्यवाद। 'वनमाली स्मृति सृजन पीठ' का आभार। अंक का संयोजन, सम्पादन और प्रस्तुति, सब कुछ अच्छा है। सामग्री पठनीय है। मनोहर और आकर्षक तो हर पृष्ठ है।

बालकवि बैरागी, नीमच

●●●

वनमाली सृजन पीठ का त्रैमासिक संवाद पत्र 'रंग संवाद' प्रकाशित कर आपने राजधानी की रंग-दुनिया में ताजगी भरी बयार प्रवाहित की है। संवाद पत्र का अप्रैल-जून अंक मुझे मिला है। उसका आवरण पृष्ठ ही बहुत कुछ कह गया है। कैमरे ने नृत्य प्रस्तुति का बहुत ही मूल्यवान रूपा रूपायित किया है। चित्र से यह संदेश भी निकलता है कि रंग की दुनिया में जो ऊंचाई पा गए हैं, उन्हें नीचे खड़े साधकों की चिंता भी करना चाहिए। मन और कर्म, दोनों से कला को समर्पित विनय उपाध्याय को आपने संवाद पत्र के साथ जोड़कर सही काम किया है। कला के विभिन्न रूपों के साथ उनका आत्मिक संबंध सचमुच स्तुत्य है। 'संवाद' एक द्विपक्षीय अंतर्क्रिया है। अतः आग्रह है कि 'रंग संवाद में रंगकर्म से जुड़े हर व्यक्ति को स्थान मिलना चाहिए। आजकल कला की गतिविधि पर दैनिक अखबारों में 'इवेन्ट' से पहले ही लेख की सामग्री प्रायः छप रही है। रिपोर्टरों के पास समय ही नहीं रहता कि वे प्रस्तुतियों को देखें और डूबकर लिखें कुछ तो आफत निपटाने की शैली में लिखते हैं। बहुत से तो सितार और तानपुरा में अंतर ही नहीं जानते। रंगमंचीय प्रस्तुतियों के बारे में ब्रोशर के आधार पर बेजान समाचार गढ़ लिये जाते हैं। इससे कला को बड़ा नुकसान हो रहा है। रंग संवाद को इस नुकसान की खासतौर से चिंता करना है। आप नाट्य निर्देशकों और वरिष्ठ रंगकर्मियों को समीक्षा लेखन के लिए प्रोत्साहित करें। रंगकर्मी हो या अन्य कलाकार जब तक वह 'लाइट' का केन्द्र रहता है, उसकी पूछ परख होती है फिर उसकी चिंता नहीं की जाती कि वे किस हाल में हैं, जबकि कला को उनके अनुभवों से बहुत कुछ मिल सकता है। 'रंग संवाद' को बीते कल के सितारों पर भी क्रमशः कुछ देते रहना चाहिए। म.प्र. में जो पारंपरिक नाट्य विधाएं, मान्य आदि प्रचलित हैं और टी.वी. के भस्मासुरी फैलाने के कारण गुम होने की कगार हैं, उनके बारे में भी 'रंग संवाद' को चिंता करना चाहिए, ऐसा मैं सोचता हूँ। देशज कला संपदा को आखिर यूँ ही तो बर्बाद नहीं होने दिया जा सकता।

नये रंगकर्मियों और कलाकारों के मन में अपनी-अपनी कला विधा को लेकर बहुत से सवाल उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं। लेकिन उनका समाधान नहीं मिलता। एक कॉलम इस हेतु प्रारंभ कर सकते हैं और प्राप्त सवालों के विशेषज्ञों/अनुभवियों से मार्गदर्शक जवाब दिलवा सकते हैं। हिन्दी रंगमंच की दुनिया में नाटक संस्कृति के विकास की चुनौती तो 'रंग संवाद' के सामने है ही। रंगमंच के लिए अभिनेत्रियों के अकाल को लेकर वरिष्ठ रंगकर्मी प्रो. सतीश मेहता की चिंता पर रंग जगत को गंभीरता से विचार करना चाहिए। इस बारे में भी सोचा जाना चाहिए कि रंगकर्म महानगरों से बाहर निकल कर छोटे नगरों और कस्बों में कैसे पहुंचे।

युगेश शर्मा, भोपाल

●●●

खूबसूरत और सुव्यवस्थित। आप तो खैर इतने ठोस और व्यवस्थित काम करने के संस्कारों से पहले से ही समृद्ध हैं। विनय उपाध्याय को जोड़कर और भी विवेकमत्ता का परिचय दिया है। शुभकामनाएँ।

डॉ. विजय बहादुर सिंह, भोपाल

●●●

रंग संवाद जैसी सुरुचि पूर्ण पत्रिका पाकर मन की कली-कली खिल गई। कलात्मक मुद्रण के साथ स्तरीय सामग्री - पहली नजर में पारखीजन आकर्षित हुए, सराहना की।

जगदीश विद्यार्थी, सनावद

●●●

संपूर्ण अंक सुरुचिपूर्ण आधुनिक विजन से छपा है। 'रंग संवाद' की प्रमुखता होकर भी कला की सभी विधाओं से संबंधित सामग्री है। इस पत्रिका के ध्येयों में 'परंपरा' और 'आधुनिक आग्रहों' के बीच संवाद और 'लोकरुचि का सम्मानजनक परिवेश निर्मित करने की बातें उभरी हैं। पीठ के ध्येयों में भी शामिल हैं ये बातें जो महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि अधिकांश हम यह भ्रम पाले हैं कि आधुनिकता और परंपरा मूलतः परस्पर विरोधी हैं। हम यह भूले हुए हैं या जानते नहीं कि 'आधुनिकों ने ही दुनिया की 'ठेठ' परंपराओं को साक्षात् करके आधुनिक रचना निर्मित की है।

सुरुचिपूर्ण लोकरुचि निर्माण की बात से इसी अंक में छपी खबर से पता लगा कि 149वीं रवीन्द्र जयंती पर हुए आयोजन के समय म.प्र. संस्कृति विभाग व 'त्रशी' सांस्कृतिक संस्था के संयुक्त प्रयास से रवीन्द्र भवन प्रांगण में 'गुरुदेव' टैगोर की प्रतिमा' भी स्थापित हो गई। पहले मैं देख आया था। किन्हीं रजत घोष की बनाई है। रवीन्द्र भवन परिसर में कुरुचिपूर्ण शिल्पों का इजाफा और भवन के अन्दर भी रवीन्द्र का घटिया चित्र है। यह दृढ़ विचार है कि यदि लोक रुचि संपन्न बनना है तो सार्वजनिक स्थानों पर 'प्रोत्साहन' के लिए नहीं चुनिन्दा श्रेष्ठ कृतियाँ स्थापित होनी चाहिए। कलाकार को प्रोत्साहन के दूसरे जरिये दिए जा सकते हैं किन्तु सार्वजनिक स्थान कदापि नहीं।

राजाराम, भोपाल

●●●

कविता और संगीत के अंतर्सम्बन्धों पर संपादकीय रोचक है। कविता में आंतरिक लय भी सन्निहित होती है और इसके अभाव में, कविता, कविता न होकर निरा गद्य होकर रह जाती है। राजेश जोशी ने अपनी असम्बद्ध टिप्पणियों में नाटकों की वर्तमान दशा पर अपनी चिंताएं प्रकट की हैं। पुनर्पाठ में 'संवाद की मर्यादाएँ' के अतिरिक्त 'रंगमंच अकाल अभिनेत्रियों का' तथा 'कला पर पूँजी का ग्रहण' पठनीय एवं जरूरी लेख हैं। प्रसिद्ध संतूर वादक ओमप्रकाश चौरसिया से विनय उपाध्याय की चर्चा महत्वपूर्ण है। एक उम्दा अंक के लिए बधाई।

प्रदीप जिलवाने, खरगोन

●●●

नाटक साहित्य और कला, कलाकार के त्रिकोण को समझने के लिए जिस गम्भीर परख-पड़ताल और विमर्श के साथ खोजीकर्म की आवश्यकता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है उस दिशा में रंग संवाद की भागीदारी महत्वपूर्ण है। कविता और संगीत दोनों की संपादकीय ने जो मौलिक रेखांकन संतोष चौबे ने किया है वह कुछ सोचने पर विवश करता है। नाटक की भाषा पर राजेश जोशी की चिंता जायज है रंगमंच की ताली निर्देशक और नाटककार दोनों को मिलकर ही बजानी पड़ेगी। एक हाथ में कुछ भी संभव नहीं है। डॉ. विजय अग्रवाल ने कला पर पूँजी के प्रभाव को बखूबी रेखांकित किया है। संवाद की मर्यादा पर निर्मल वर्मा की टिप्पणी सटीक है। हिन्दी नाट्यलेखन की गंभीर स्थिति पर विनय उपाध्याय ने विचारोत्तेजक विमर्श दिया है।

श्रीरंग, इलाहाबाद

●●●

'रंग संवाद' में 'रंगमंच' बाबत तमाम विस्तृत जानकारी पढ़ने को मिली, जिससे अब तक अनभिज्ञ थे। निर्मल वर्मा जी का 'संवाद की मर्यादाएं' में नाटक के प्रति चिंता जाहिर की गई है वह सोचनीय है। उनका कथन कि विद्यार्थी जीवन में ही 'रंगमंच' के प्रति युवाओं में रुझान पैदा किया जाये सही है, वैसे ये कथन सभी कलाओं के लिये भी है (नृत्य, संगीत, वादन) इस तरह के पाठ्यक्रम विद्यालय स्तर से ही शुरु किये जाने चाहिये। आज के प्रदूषित परिवेश में जहाँ संवेदनाओं का निरंतर ह्रास होता जा रहा है, वहाँ हमारी ये कला संस्कृति ही है जो इस पर थोड़ा अंकुश लगा सकती है, जो हमें संवेदनशील व धैर्यवान बनाती है। इसलिये विद्यालय स्तर से ही अगर बच्चों को इसके प्रति आकर्षित किया जाये तो भविष्य में इसके सुखद परिणाम मिल सकते हैं।

श्वेता द्विवेदी, ग्वालियर

●●●

लंबे विदेश प्रवास से लौटने पर 'रंग संवाद' के अंक मिले। आपकी यह पत्रिका जिस मनोयोग से प्रयत्नपूर्वक, कला की समांतर दुनियां का कोलाज रचती है वह अत्यंत प्रीतिकर है।

डॉ. सूर्यबाला, मुंबई

●●●

रंग संवाद में संगीत, साहित्य और अन्य कलाओं का सम्मिलन देखकर एक नई दृष्टि का आभास हुआ। आगामी अंकों को देखने की लालसा बनी रहेगी।

प्रकाश पाठक, विदिशा

●●●

इस पत्रिका में लोक और शास्त्रीय कलाओं के बीच एक सार्थक संवाद की पहल बेहद सार्थकता लिये है। इस महत्वपूर्ण और जरूरी कार्य के लिए साधुवाद।

डॉ. मालती शर्मा, पुणे

●●●

सधे हुए संपादन और चयनित सामग्री की सराहना करता हूँ। सृजनात्मक चेष्टाएं साफ झलकती हैं।

राम अधीर, भोपाल

●●●

रंग संवाद में महानगरों ही नहीं छोटे कस्बों की सक्रियता को भी लक्ष्य किया है। नए नाट्य लेखकों और युवा रंगकर्मियों तथा कला रसिकों के बीच संवाद का नया मंच उपलब्ध कराने के लिए धन्यवाद।

देवांशु पाल, बिलासपुर

●●●

गिरिमोहन गुरु (होशंगाबाद), रमेश खत्री (जयपुर), संतोष साहू (सागर), नरेश हनिलपुरकर (चिटगुला, कर्नाटक), प्रदीप नवीन (इंदौर, म.प्र.), सुदीप सोहनी, गौरव शर्मा (मुंबई), नितेश मांगरोले (भोपाल), स्वाती उखले (उज्जैन), असीम दुबे (भोपाल), कैलाश मंडलेकर, अरुण सातले, शरद जैन (खंडवा), ओमप्रकाश चौरसिया (भोपाल), असीम उपाध्याय (इंदौर), वर्षा पारे (बड़ोदा) की प्रतिक्रियाएँ भी मिलीं।